ग्रंथ परिचय।

वैदिक यज्ञ विषयपर जो ग्रंथ स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित हो रहा है उसका यह प्रथम भाग है, इस प्रकारके चार अथवा पांच भाग प्रकाशित होने हैं और वे क्रमशः प्रकाशित हो जांयगे।

संस्कृत ग्रंथ।

इस ग्रंथके प्रारंभमें पृष्ठ१ से पृष्ठ२९ तक वैष्णव संप्रदायके पिष्ट-पशु मीमांसा विषयके तीन ग्रंथ छपे हैं। ये यद्यपि बहुत प्राचीन नहीं हैं तथापि वैष्णव संप्रदाय के मध्य कालके ये ग्रंथ हैं। संपूर्ण वैष्णव संप्रदायके विद्वान निर्मांस यज्ञकेही अनुकूल हैं। संपूर्ण वैष्णव आचार्य इस समांस यज्ञके पूर्ण विरोधी रहे हैं। इस भारत वर्षमें जितना प्रचार वैष्णव संप्रदाय के मतका है उतना किसी भी अन्य मतका नहीं है। हरएक प्रांतमें इसके अनुयायी हैं और ये अपने मतके कट्टर अनुयायी भी हैं। अर्थात् ये किसीके साथ अपने सिद्धां-तों की हानि सहकर मिलनेके लिये कभी तैयार नहीं होते। इस

लिये इनके मतका इस ग्रंथमें विचार करना आवश्यक है।

वैष्णव मत स्थापन करने वाले सभी आचार्य प्रारंभसे निर्मांस-भोजी तथा निर्मांस यज्ञके प्रेमी रहे हैं। वैष्णव मतमें एक भी आचार्य ऐसा नहीं हुआ कि जो निर्मांस यज्ञका पक्ष न मानता हो।

इन वैष्णवोंका अन्यान्य समांस यज्ञके पक्ष पाती लोगोंके साथ वारंवार शास्त्रार्थ होता था, इस लिये इन वैष्णव आचार्योंने ये ग्रंथ निर्माण किये। इससे पता लगेगा कि इन ग्रंथोंका प्रामाण्य किस रीतिसे देखना चाहिये।

इन वैष्णव ग्रंथों में जो प्रमाण दिये हैं उनका विवरण आगेके भाषा ग्रंथोंमें आगया है तथा जो इनमें प्रतिपादन पद्धति स्वीकृत की है उसमें मुख्य भाग वही है जो आगेके भाषाके लेखोंमें आगया है। इन ग्रंथोंका जो भाग शेष है वह कोई विशेष महत्त्वका नहीं है, इस कारण इन ग्रंथोंका भाषामें रूपान्तर नहीं किया गया है। पाठक इनके प्रमाण मंत्रोंका विवरण आगे भाषाके लेखोंमें देख सकते हैं।

वैष्णवोंका जोर " पिष्टपशु " के ऊपर विशेष है। साक्षात पशु स्वीकार न करना और उसके स्थानपर पिष्टपशु का उपयोग करना — अर्थात् आटेका पशुसदृश आकार बनाकर— उस के शरीरके स्थान स्थानसे पिष्ट उठाकर हवन करना इनको संमत है। परंतु यह पक्षभी हमें पूर्णतया मान्य नहीं है। पशु को मारने का डर उत्पन्न होनेसे उसके प्रतिनिधिका पिष्ट पशु रूपसे स्वीकार ये कर रहे हैं। इसलिये वास्तवमें इनका पक्ष पूर्ण निर्मांस पक्ष नहीं है। मांस लेनेसे इनके दिलकी घबराहट होती है इसलिये ये आटेका पशु बनाते हैं और उसके शरिरसे गोले उठाकर हवन करते हैं। इस कारण यह पक्षभी एक प्रकार कमजोरीका पक्ष है।

यदि वेद पशुमांस के हवन की आज्ञा देता है तो पशु मारनेके लिये झिझकना वैदिक धर्मियोंके लिये उचित नहीं है। और यदि

वेद वैसी आज्ञा नहीं देता तो आटेका पशु करना और उसके अवयवोंका हवन करना भी एक प्रकारकी अज्ञानता की ही बात है। दोनों प्रकार से आटे के पशु बनानेकी कल्पना तुच्छ है। जो लोग आटेका पशु बनाते हैं वे " पशु याग " ही मानते हैं। इस लिये हम इनके पक्षके साथ बिलकुल सहमत नहीं हो सकते।

इतना होनेपर भी वैष्णव संप्रदायके ग्रथोंको हमने यहां इस लिये रख दिया है कि हमारे अतिरिक्त अन्य प्राचीन मत के आचार्य भी निर्मांस यज्ञकेही पक्षपाती रहे हैं यह सिद्ध हो। इसके अतिरिक्त इनके प्रतिपादनसे हमारा कोई और संबंध नहीं है। क्यों कि हमारा स्पष्ट पक्ष यह है कि वेदमें किसी प्रकार के पशु मांस के हवनकी आज्ञा नहीं है। यह हमारा पक्ष हम आगेके पुस्तकों में प्रतिपादन करेंगे और इस पुस्तक के कई लेखोंमें भी प्रतिपादित हुआ ही है।

भाषाके लेख !

संस्कृत लेखोंके विषयमें इतना कहनेके पश्चात् भाषाके लेखोंके विषयमें थोडासा परिचय कराना चाहते हैं।

पं० बुद्ध देवजी विद्यालंकार।

सबसे पहिले हम पाठकोंके साथ पं० बुद्ध देवजी विद्यालंकारका परिचय कराना चाहते हैं। इनके दो लेख इस ग्रंथमें प्रसिद्ध हुए हैं। यद्यपि ये अधूरे हैं तथापि वैदिक यज्ञका एक अपूर्व तत्त्व इन में प्रसिद्ध हुआ है। हम कईवार पं० बुद्ध देवजीको अपनी लेखमाला पूर्ण करनेके लिये प्रेरणा कर चुके हैं, परंतु प्रचारके कार्य के

कारण इनको सदा समयाभाव रहता है इस लिये व अपनी लेख-माला पूर्ण नहीं कर सके। हम आशा रखते हैं आगे प्रसिद्ध होनेवाले भागों के लिये वे अधिक लेख तैयार करके हमें दे देंगे।

हम पाठकों को यहां इतना कहना चाहते हैं कि पाठक इनके लेखोंमें वह बात देखेंगे कि जिस बातको हम शुद्ध वैदिक धर्म के तत्त्वरूप कह सकते हैं। जो यज्ञ विषयक खोज करना चाहते हैं उनके लिये ये लेख निःसंदेह मार्गदर्शक होंगे। और यदि पंडित जी अपनी यह लेखमाला संपूर्ण रूपसे प्रकाशित करेंगे तो वैदिक धर्म के प्रेमी सज्जनोंपर उपकार होंगे इस में हमें कोई संदेह नहीं है।

पं. चंद्रमणिजी विद्यालंकार।

पालीरत्न श्री. पं. चंद्रमणिजी संस्कृत तथा पाली भाषाके बडे विद्वान हैं। इन्होंने बौद्ध ग्रंथोंके वचनों द्वारा जो लेख इस मालामें लिखा है, उस लेखसे श्री. भगवान् गौतम बुद्धके समय तथा उसके पश्चात् पशुयागके विषय में उस समयके विद्वानों की जो संमति थी उसका ज्ञान हो सकता है। यज्ञ विषयका विचार इतिहासिक दृष्टीसे करनेवाले लोगोंको इस लेखसे बडी सहायता मिल सकती है।

पं. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार।

श्री. पं. धर्मदेवजी का लेख उसके विशेष निर्देशों के लिये अत्यंत मननीय है। यदि ये निर्देश ध्यानमें धर कर लोग वेदका यज्ञप्रकरण पढेंगे तो उनको निःसंदेह यज्ञीय पदार्थों के निर्मांस होने में कोई शंका नहीं रहेगी। सर्व साधारण मार्ग दर्शानेका कार्य यह लेख कर रहा है।

यज्ञकी खोज।

अन्य लेख संपादकीय हैं और यज्ञ विषय की खोज करनेके

लिये ही लिखे गये हैं। ये लेख केवल भूमिका रूपही हैं। इस संबंधके लेख और आगेके भागोंमें छपने हैं जो इसी प्रकार पुस्तक रूपसे पाठकों को आगे मिलेंगे।

" यज्ञ " वैदिक धर्म का प्राण है, इस लिये यज्ञ विषयकी खोज वैदिक धर्मी विद्वानों को करना आवश्यक है। इस समय ऐसी अवस्था आचुकी है कि संपूर्ण यज्ञ केवल नामरूपसे ही रहे हैं और असली रूप में कहां भी दिखाई नहीं देते। वैदिक यज्ञसंस्था की खोज करने के मार्ग में यही रुकावट है।

यज्ञ विषय की खोज करनेका कार्य स्वाध्याय मंडलने उठाया है और इस विषयपर जितने भी ग्रंथ मुद्रण करना पडे, करके जहांतक बन सके पूरी खोज करनेका निश्चय किया है। इस समय हमने अंदाजा किया है कि इस प्रकारके कमसे कम पांच पुस्तक मुद्रित करने से इस समय प्रस्तुत हुए विचार ग्रंथ रूपमें ढाले जा सकते हैं और कुछ न कुछ वैदिक यज्ञ संस्थाकी कल्पना पाठकोंके सन्मुख उपस्थित हो सकती है। आशा है कि इस प्रकारकी सेवासे " यज्ञ पुरुष " की उपासना होकर वह यज्ञपुरुष अपना वास्तविक स्वरूप वैदिकधर्मियोंके अंतः करण में प्रकाशित करेंगे।

स्वाध्यायमंडल
औंध (जि. सातारा)
१ चैत्र १९८३

संपादक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

विषय सूचा.

[संस्कृत ग्रंथ.]

[भाषाके लेख]

पिष्टपशुमीमांसा।

(१)

श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीरमाकान्ताय नमः॥

प्रणम्य श्रीवेंकटेशमिष्टदेवगुरूनपि।
भक्त्या मीमांसनं पिष्टपशोः कुर्वे यथामति॥

शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे नारायणीये —

सवनीयपशोः काल आगते तु बृहस्पतिः।
पिष्टमानीयतामत्र पश्वर्थमित्यभाषत॥ इत्यादि॥

तथा ऋषय ऊचुः —

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवाः कथं वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ इत्यादि॥

दानधर्मे युधिष्ठिर उवाच —

अहिंसा परमो धर्म इत्युक्तं बहुशस्त्वया।
श्राद्धेषु च भवानाह पितॄनामिषकांक्षिणः॥

इत्यादि युधिष्ठिरकृतप्रश्नस्य बहुधा परिहारमुक्त्वेदमुच्यते —

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाणं विधिनिर्मितम्।
पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम्॥

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मस्तत्त्वार्थिभिरुदाहृतः ॥

इत्यादिना काम्ये कर्मणि प्रत्यक्षमांसमुक्त्वा निष्कामकर्मणि—

य इच्छेत्पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् ।
स वर्जयत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः ॥
श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
तेनाऽयजन्त यज्वानः पुण्यश्लोकपरायणाः ॥
ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा । इत्यादिना॥

. नचाऽस्मिन्नर्थे वेदाभाव इति वाच्यम् । किं वेदसामान्याभावो विवक्षित उत पठ्यमानवेदाभावः । न तावदाद्यः । "वेदेषु परिनिष्ठितं । श्रूयते हि पुराकल्पे" इत्यादिना वेदसद्भावस्य प्रमितत्वात् ।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥ इति
वेदादप्युत्तमं चक्रे पञ्चमं वेदमुत्तमम् ॥ इति
अनुक्तं पञ्चभिर्वेदैर्न वस्त्वस्ति कुतश्चन ।
अतो वेदत्वमेतेषां यतस्ते सर्ववेदकाः ॥ इति ॥

वेदादपि वेदोपबृंहकत्वादिना भारतस्य प्राबल्यकथनाच्च ।

न चैतद्भारतवाक्यमर्थवाद इति वाच्यम् । अर्थवादानां विध्येकवाक्यतया प्रामाण्येन तादृशविधेरुन्नयनात् । वेदे तन्मूलविधिसद्भावस्तु—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।

इति भारते स्पष्टमुक्तः । अन्यथा सति एकस्मिन्नपि वेदे वेदेषु परिनिष्ठित-मिति वदतो बादरायणस्य प्रतारकत्वमेव स्यात् । न हि अनन्तशाखातत्त्वार्थवि-दो ब्रह्ममीमांसासूत्रकृतो बादरायणस्य तद्युक्तम् । तदुक्तं तात्पर्यचन्द्रिकायाम्-

अनन्तशाखातत्त्वार्थविदा सूत्रकृतेरितम् ।
कूपमण्डूकवत्त्वल्पवाक्यज्ञोऽन्यथयेत्कथम् ॥ इति ॥

न च अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इति विधिविरोध इति वाच्यम् । विरोधप-रिहारेण उभयविधवाक्यस्यापि परिपालनीयत्वात् । अन्यतराप्रामाण्यकथनस्य वेदबाह्यकृत्यत्वात् । तदुक्तं प्राचीनैः –

गृहयोर्विरोधे संग्रामे ह्यर्वकामपराङ्मुखीम् ।
विरोधशान्तिं कः कुर्याद्विना म्लेच्छकुमारकान् ॥
तृणपिण्याकदानेन कृत्वार्थान्तरलालसाम् ।
एतदर्थपरां कृत्वा मोचयेत्कलहं तयोः ॥
एकं प्रमाणमितरं त्वप्रमाणं तयो भवेत् ।
श्रुत्योरिति वदंयस्तु वेदबाह्यो भवेत्तु सः ॥ इत्यादि

व्यवस्था तु पशुमालभेतेति सामान्यतः श्रुतस्य पशुशब्दस्य छागस्य वपाया मेदस इति विशेषश्रवणात् । छागे पर्यवसानवत् ऋग्वेदब्राह्मणानुसारेण पिष्ट-पशुपरतया उदाहृतश्रीमन्महाभारतवाक्य एवं सिद्धान्तः ॥ श्रौतपशुशब्दस्य प्रत्यक्ष इत्यार्थकत्वे दैवताधिकारिकत्वम् । अत एव दानधर्मे "ऋषिभिर्निर्ऋति-नृणाम्" इति चोक्तम् ॥

नचानेनैव न्यायेन अश्वमेधादेरपि अनुष्ठानं स्यादिति वाच्यम् ।

अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ।

इति प्रत्यक्षछागनिषेधेन बीजविधानवत् । तत्र तदभावात् । "अश्वालंभं गवालंभं" इत्यादिना अश्वमेधादीनां स्वरूपेण निषेधात् । नह्यश्वालम्भमिति वाक्यस्य भारतवाक्यस्य च वाक्यत्वाविशेषे अन्यतरानुग्रहेण अन्यतरबाधो युक्तः ॥ तस्मात्प्रसिद्धलोकाद्याचारणादेशभेदेन व्यवस्थावत् अश्वमेधादीनां कालभेदेन व्यवस्थावत् पात्रकर्तृभेदेन व्यवस्था द्रष्टव्या ।

न हि यथाश्रुत एव वेदवाक्यार्थः ॥ तथा सति आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते, अन्धो मणिमविन्ददित्यादेरपि यथाश्रुतमात्रार्थकत्वापत्त्या मीमांसोच्छेदप्रसंगात्॥ किन्तु उपक्रमन्यायनिर्णीतः प्रमाणान्तरसहकृतश्च । सत्यप्येवं दुराग्रहात् प्रत्यक्ष-पशुमेवकुर्वतां त्रिविक्रमत्वसंभृतिद्युव्याप्तिवैधाद्युपासनमपि सर्वसाधारणमंगीकर्त-व्यं स्यात् । ततश्च "समान एवं चाभेदात्[ब्र. ३।३।१९]" "संभृतिद्युव्याप्त्यपि" चा-तः ब्र. ३।३।२३ 'वैधाद्यर्थभेदात्[ब्र.३।३।२५]' इतिब्रह्ममीमांसासूत्रैः स्तदुपात्तेत-

गुणास्त्रैविक्रमाद्याश्च संहर्तव्या न संशयः ।
विरिंचस्यैव नाऽन्येषां स हि सर्वगुणाधिकः ॥

इति ब्रह्मतन्त्रवचनेन

देवादीनामुपास्यास्तु भूतिव्याप्त्यादयो गुणाः ।
आनन्दाद्यास्तु सर्वेषामन्यथाऽनर्थकृद्भवेत् ॥

इति ब्रह्मतर्कवचनेन

भिंधि विद्धि स्तृणीहीति फलभेदेन सर्वशः ।
यत्यादीनां तेष्वयोगान्नाऽधिकारिकता भवेत् ॥
अयोग्योपासनादीयुरनर्थं चार्थनाशनम् ।

इति ब्रह्मतर्कवचनेन विरोधोऽपि नादरणीयः स्यात् । ततश्च तदुपासकानां स्वस्मिन्विरिंचत्वादिकमप्यभिनतं भवेत् । तच्च निषिद्धं । " न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् । [ब्र. ३ ४ ४१] "उपपूर्वमपि त्वेके भावशमनवत्तदुक्तम् " ब्र- ३ ४ ४२ इत्यादि ।

न चैतत्सर्वं गुणोपासनादिपरं न तु कर्मपरमिति वाच्यम् । कर्मणोऽप्यग्निप्रतीके भगवदुपासनारूपत्वात् ; तस्माद्भेदसामान्याभाव इति वक्तुं न युक्तम् ।

नच प्राणिपीडनस्यैव हिंसाशब्दार्थत्वेन पिष्टपशुपक्षे कथं हिंसाशब्दार्थलाभः। कथं वा व्रीहियवमतीरपः पाययेदित्युक्तोऽप्यनादिलाभ इति वाच्यम् ।

मा भेर्मा संविक्था मा त्वा हिंसिषम् ।

इत्यनेन हिंसादीनां प्रतिपादनदर्शनेन तेषामपि प्राणित्वात् । तदुक्तम्—

हविः कपालयूपाद्या देवता एव सर्वशः ।

इत्यादि । अपः पाययेदित्यादेस्तु वरुणप्रघासे मेषमेष्योः शमीपर्णकरीरप्रक्षेपवत् कृष्णलश्रपणादिवच्चादृष्टार्थत्वोपपत्तेः । कृष्णलश्रपणादिकं च पूर्वमीमांसापंचमस्य द्वितीये पादे विचारितम् । कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यादित्यधिकरणेषु "प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः "इति वाक्यविहितेषु कृष्णलशब्दितेषु स्वर्णमाषेषु घृते श्रपयतीति प्रत्यक्षश्रुतिविहितोऽपि विक्लेदनायोग्यत्वान्न कर्तव्य इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपक्षं प्राप्य प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् इत्युत्तरसूत्रेण राद्धान्तितं दृष्टार्थस्य विक्लेदनस्याऽसंभवेऽपि अदृष्टार्थं पाकः कर्तव्यः । अनदनीयस्यापि यथा प्रदानं तद्वत् । अन्यथा विधिवैयर्थ्यापत्तेः । "तथा भक्षणन्तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् " इत्यधिकरणे । यथा पुरोडाशे प्राशित्रादिभागो भक्ष्यते न तथा तेषु कृष्णलेषु भक्षोऽस्ति । प्रीतिरूप-

दृष्टद्वारस्याऽभावात् । यत्तु विक्षेपाकारं भक्षयन्तीति इक्षुदण्डादिभक्षणे तद्रस स्वीकारोत्पन्नशब्दं समानं शब्दपूर्वकभक्षणविधिवाक्यम् । तत्तु घृतेषु शृतेषु क्लिष्टाज्यस्यैव भक्षणविधायकमिति पूर्वपक्षं प्राप्य राद्धान्तितम् । प्राजापत्यं घृते चरुमिति कृष्णलानां प्राधान्येन घृतस्य च गुणत्वेन निर्देशात्प्रधानानामेव फलवाक्यान्वयस्यौचित्यात्तेषां चोदनीयानामपि वचनबलाद्भक्षणमुपपन्नमिति विक्षिपाकारविशिष्टभक्षणं कृष्णलानां विधीयत इति कार्यमेव तदिति । न च तत्रोच्येत तथा स्वीकारेऽपि प्रकृते विधिविषयस्य प्रत्यक्षपशोरेव कर्तुं शक्यत्वे किमेतावता प्रयासेनेति वाच्यम् । न हि कर्तुं शक्यत्वमात्रं करणे प्रयोजकम् । तथात्वे परदारागमनब्रह्महिंसाऽवध्यवधादेरपि करणापत्तेः । किंतु विधिनिषेधशा स्त्रपर्यालोचने सति अस्ति च प्रत्यक्षपशोर्निषेधः पिष्टपशोरेव च विधिरित्युक्तम् । अतोऽयुक्त एतावान्प्रयासः ॥ सत्यप्येवं प्रत्यक्षपशुस्वीकार एव ऐहिकपार- त्रिकमहाप्रयासहेतुरिति सूज्ञैरेव ज्ञातुं शक्यत इत्यलम् ॥

किं च मन्त्राधिकरण एव ऊन इति गुणसूत्रेणाग्नीषोमीयाच्चोदकेन पशुगुणं प्राप्ते-

अन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्यः ॥

इति अध्वर्युप्रैषगते वाक्ये मात्रादिपदानामूहप्रतिषेधपरमेकवचनान्तं मात्रा- दिपदं न बहुवचनान्तं रूपवृद्धिमाप्नुयादित्यर्थकेन माता वर्द्धत इति वचन- मन्यत्रोहास्तित्वावगमकतया मन्त्राणामर्थाविवक्षायां लिंगमुपन्यस्तम्। अत्र यथा पशुगणे मात्रादिपदानामेकवचनान्तानामसमवेतार्थतयोच्चारणमदृष्टार्थमेकस्मि- न्पशौ दृष्टार्थमित्येकस्यैव प्रयोगभेदेनोभयार्थत्वं तथा प्रकृतेऽपि । अत्र यत्क- श्चिदाह । पशुगणे मात्रादिशब्दानामेकवचनान्तानामसमवेतार्थत्वे स्यात्। तदु- च्चारणम् अदृष्टार्थत्वेन तदास्ति तेषां पशुपरेणैतामिति शब्देन सहान्वयाभावात् किन्त्वनुमन्यतामित्यनेनान्वयः । स च तत्तत्प्रतिसंबंधित्वाभिप्रायेण ।

ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ध्यानेन तेन हतकिल्बिषचेतनास्ते मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ।

इति श्लोक इवैकवचनान्तत्वेऽप्यविरुद्धः। अतोऽर्थसमवायान्न तदुच्चारणम- दृष्टार्थम्। न माता वर्धत इति वचनं न्यायप्राप्तानां ऊहानुवादमात्रं प्राप्तोहप्रति-

येधार्थम्। उक्तं च राणके—एकमात्रादिसम्बन्धे पशुभेदेऽपि मात्रादि शब्दो हस्यां-तो शक्यत्वात्। मात्रादिभेदेऽप्येकपशुसम्बन्धाभावात् सम्बन्धिभेदादेव तद्भेद-सिद्धेः न्यायादेव अनावगतेरित्यतो वचनबलाददृष्टार्थत्वसंभवात्कथमत्र दृष्टान्त-भाव इति॥

अत्र ब्रूमः। साक्षात्पशुपरेदंशब्दान्वयाभावेऽपि बहुत्वेनावगततत्कार्मिकाया-मनुमतिक्रियायामेकस्य मात्रादेरन्वयासंभवात्तदन्वयघटनामबहुवचनान्तत्वेन तेषां पदानां महावश्योभावात्॥मातुः पयोधररसमित्यादिकं तु गौणेनेह तदाश्रयेण प्रमाणमस्ति। एवं चात्र वचनबलादेवेहाप्यंगीकारः॥

तस्मादेकवचनान्तानां तेषामुच्चारणं पशुगणे अदृष्टार्थमित्यकामेनाप्याश्रयणी-यमिति दृष्टार्थतानुपपत्तिरिति। व्रीहियवमतीरपः पाययेदित्यादेर्दृष्टार्थत्वेऽपि नाऽ नुपपत्तिः हविष्ट्वयोग्यस्य जीवस्य-

अबुद्धिपूर्वमरणात्स्वर्गश्चापि पशोर्भवेत्।

इति स्वर्गयोग्यतया देवतात्वेन तदीयभक्षणादिव्यापारस्याऽप्यदृश्यत्व संभवात्। तदुक्तम्—

पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः प्रार्थितौजसः।
अचिन्त्याः शक्तयस्तासां दृश्यन्ते मुनिभिश्च ताः॥
ताश्च सर्वगता नित्यं वासुदेवैकसंश्रयाः॥ इति॥

सारभागस्यैव भक्षणेन स्थूलभागस्य यथापूर्वं दर्शनसंभवाच्च तेनापि द्वितीयः। स्वस्वशाखागतत्वेन कतिपयवाक्स्वाध्येतृभिरस्माभिरध्यायस्य भावस्याभावनि-श्चायकत्वयोगात्। तथा सति बहुविप्लवापत्तेः। पठ्यमानवेदविहितानुबंध्यप-शुपरित्यागेन तत्स्थाने मैत्रावरुण्यामिक्षायाः सर्वैरप्यनुष्ठेयमानत्वात्। वाजपेयया-गादौ सुराग्रहपरित्यागेन प्रतिनिध्युपादानस्य सर्वैरपि क्रियमाणत्वाच्च। तत्रैकः पठ्यमान वेदोऽस्ति। नच तत्र अश्वालंभमित्यादिनिषेधबलेन मैत्रावरुण्यामिक्षां बह्वृचाः समामनंति-

अन्नस्य वा एतच्छमलं यत्सुरा।

इति चोक्त्यनुसारमिति वाच्यं। अत्रापि व्यासप्रोक्ते सत्वात्। किंच सर्वैः पठ्यमान एव ऋग्वेदब्राह्मणद्वितीयपंचिकायां अष्टमखण्डे पुरुषं वै देवा

पशुमालभंतेत्यादिना पुरुषादिभ्यो मेधा क्रमेणोक्त्वा—

> त एत उत्क्रान्तमेधाऽमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाऽश्नीयात् । तमस्यामन्वगच्छन्सोऽनुगतो व्रीहिरभवत् तद्यत्पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्केवलेन नः पशुनेष्टमसत्स मेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति । य एवं वेद । इति

व्रीहीणामेव मेध्यत्वकथनात् । न च अनुनिर्वपन्तीति श्रवणात् अनुनिर्वाप्येष्टि-प्रकरणमेतदिति वाच्यम् । तथा सति पश्वमेध्यत्वोक्तेः अनुपपत्तिप्रसंगात् । न हि अनुनिर्वाप्येष्टौ पश्वमेध्यत्वं निमित्तम् । न वा अमेध्येनेष्टा ततः पशु पुरोडाशो निर्वाप्य इति विशेषविधिरस्ति । न च अनुनिर्वाप्येष्टिः अमेध्यमेध्ये प्रायश्चित्त-रूपम् । किन्तु छिद्रापिधानमेव च निमित्तम् । अत एव एकादशखण्डे-

> यदेष हविरेव यत्पशुरथाहास्य वह्रपैति लोमानि त्वगसृक्कुष्ठिकाः शफाः विषाणेस्कन्दति पिशितं केनास्य पूर्यते । इति यदैवैतत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपान्ति तेनैवास्य तदापूर्यते । पशुभ्यो वै मेधा उदक्रामंस्तौ व्रीहिश्चैव यवश्च भूता- वजायेताम् ॥ इत्याद्युक्तम् ।

किंच यदि पश्वमेध्यत्वमेव अनुनिर्वाप्येष्टौ निमित्तं स्यात् तर्हि सवनीयपश्वनुष्ठानानन्तरमपि अनुनिर्वाप्येष्टिः कर्तव्या स्यात् । छिद्रापि-धानार्थत्वे तु छिद्रापिधानं सवनीयैः कृतमिति पशुपुरोडाशो न क्रियत इत्युक्तत्वात् पुरोडाशकरणं युक्तम् ब्राह्मणवाक्यार्थस्तु त एते पशवः पूर्वोक्तः पुरुषाद्याः उत्क्रान्तमेधाः हेतुगर्भविशेषणमेतत् । उत्क्रान्तमेधत्वात् अमेध्याः; तस्मादेतेषां मांसं इति शेषः॥ नाऽश्नीयात्॥ तं मेध्यं अस्यां व्रीहौ पशव इति शेषः अन्वगच्छप्रविष्टाः॥ समेधः ॥ पशूनेति शेषः॥ अनुगतः॥ व्रीहिरभवत्ता-त्तस्मात्कारणादेव मेधस्य पशूनां च व्रीहिषु प्रविष्टत्वादेव पशौ कर्तव्ये तत्स्थाने पुरोडाशपिष्टं पिण्डत्वसादृश्यात् ॥ पुरोडाशशब्दः॥ पिष्टपशुमित्यर्थः श्रीन्म-महाभारते पश्वर्थमिति भाषतेति । व्रीहिमयःपशुरिति चोक्ते । अव्ययादीनाम-नेकार्थत्वात् अनु सम्यङ् निर्वपंति कुर्वन्तीति यावत् । तदित्यावर्तते समेधेन

मेधसहितेन पशुना मेधपशोः उभयोरपि व्रीहिषु प्रविष्टत्वात् नास्माकं इष्टं वस्तु स्यात्। केवलेन मेध्यामिश्रेण पशुना प्रत्यक्षपशुना इष्टं नः असत् अप्रशस्तं इत्यभिप्रेत्य न हि चतुरो मुष्टिं निर्वपतीति यो निर्वापशब्दार्थः स एव सर्वत्र निर्वापशब्दार्थः भवति। तथात्वे

महीनां पयोस्योषधीनां रसः तस्य तेऽक्षीयमाणस्य
निर्वपामि देवयज्यायै॥

इति आज्यग्रहणे निर्वापशब्दार्थः शब्दानुपपत्तिप्रसंगात्॥तस्माद्धानूनामनेकार्थत्वात् निर्वपन्ति कुर्वन्तीत्येवार्थो युक्तः। ततश्चाष्टमखण्डस्याग्नीषोमीयादिसर्वपशूनां पिष्टरूपेण कर्तव्यत्वे तात्पर्यं व्रीहिष्वेव पश्वंगसाकल्यप्रतिपादनपरत्वम्॥ नवमखण्डस्य अनुनिर्वाप्येष्टिपरत्वम्। त्वेकादशखण्डस्य तत्र छिद्रापिधानमिति नैमित्तिकोक्तेः अत्र पश्वमेध्यत्वं मात्रस्योक्तेः तावन्मात्रस्यानि भित्त्वाचेति तात्पर्यं द्योतनाये न तु फलमाह समेधेनेति य एवं वेद अस्य समेधेन पशुना इष्टं भवतीह केवलेन तु शुद्धेन पशुना इष्टं भवति हेत्याश्रये एकादशखण्डे तु पशौ कृते। अनु अन्ततरमेव पुरोडाशं निर्वपन्तीति यथार्थश्रुत एवार्थः पशुमालभ्य पुरोडाशं निर्वपन्तीत्युक्तेः अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्याग्नीषोमीयं पशुपुरोळाशमनुनिर्वपन्तीति चोक्तेः न त्वंगहोमप्रतिनिषिद्धतया आज्यहोमादिकं कर्तुं शक्यं किं पुरोळाशनिर्वापेनेत्यतोऽष्टमखण्डोक्तं स्मारयति पशुभ्यो वै मेध इत्यादिना व्याख्यानात्। पूर्ववदेव उपलक्षणतया नवखण्डोक्तमंगसाकल्यं च अतः पुरोडाशनिर्वापे एव उक्त इति। न चैतत् न हि निन्दान्यायेन व्रीहिप्रशंसातात्पर्यकमेव। न तु पशुनिषेधकमिति वाच्यम्। न हि स्तुतिन्याये व्रीहिषु ज्ञातव्यं पशुनिषेध एव तात्पर्यं न तु व्रीहिप्रशंसायामिति वक्तुं शक्यत्वात् तदुक्तं प्राचीनैः-

मीमांसकानां न हि निन्दनस्य न्यायपरस्यात्कुलधर्म एव॥
न हि स्तुतिन्यायमपि प्रकल्प्य प्राशस्त्यहानिं च परे विदध्यात्।
विधेयांतरासन्निधानेऽपि निन्दा यदा मंदतोऽप्यस्तुतौ पर्यवस्येत्॥
सुरापाननिन्दाप्यहो सोमपानस्तुतावेकस्मात्तं विश्रान्तिमेतीति॥

नचाऽयं न्यायो मीमांसकासंमत इति वाच्यम्॥ न हि वयं मीमांसकानां कङ्कराः न तद्भक्तिमनुसृत्यैन सर्वं वक्तव्यमिति निर्बन्धः॥ तथा सति

तदुक्तचतुर्थ्यंतशब्ददेवतात्वादेरप्यंगीकर्तव्यतापातात् ॥ इति सर्वं समंजसम् ॥

यो व्यासवंशेऽजनि निर्मलाग्र्यस्ततोऽजनि श्रीनिवासाभिधानः ।
विद्वानभूत्सोमयाजी स पिष्टपशुं कृत्वा चाकरोत्तन्निबन्धम् ॥
मया रचितया पिष्टपशुमीमांसयाऽनया ।
श्रीसत्यबोधगुर्वब्जहृद्गतः प्रीयतां हरिः ॥

इति पिष्टपशुमीमांसा समाप्ता ॥

२

ॐ ॥श्रीमत्पूर्णगुणार्णवस्य वदनात्साक्षात्परब्रह्मणो
निर्याता चतुराननादित्रिविषद्वृन्दैः शिरोभिर्धृता॥
या लोकान्त्रितयं निजेष्टविषये सम्यङ् नियुङ्क्ते तथाऽ -
निष्टादावपति स्वकेव जननी सा मे प्रमाणं श्रुतिः ॥१॥

इह खलु नानाविधदुःखसंकटदुर्गमे संसारकान्तारे निमग्नानामल्पास्थिरसुखखद्योतिकासु द्योतमानास्वपि मनःप्रसादमनासादयतामधिकारिणां तन्निवृत्तये परमानन्दावाप्तये च सकलश्रुतिस्मृतीहासपुराणानां तदुपकारीभूतब्रह्ममीमांसायाश्च सकलपुरुषार्थोत्तममोक्षप्रदभगवत्स्वरूपज्ञापनार्थं प्रवृत्तिरिति तत्त्वम्।

तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते इति श्रुतेः। तच्च ब्रह्मापरोक्षं ज्ञानमुपास्मैनकसाध्यमिति तदर्थं श्रवणादिरूपो ब्रह्मविचारः कर्तव्यः ॥

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इति श्रुतेः॥

तत्र घानादिवासनामलिनचित्तानाम परिपक्वकषायाणां विना विषयवैराग्यं न प्रवृ-

त्तिः॥ तदर्थं विषयानित्यत्वमुपदिश्यमानमपि तावच्चेतसि न प्रतिबिम्बत्येव यावन्न तत्र मालिन्यमपसरतीत्यतः आदर्शस्येवाऽन्तःकरणस्य शुद्धिरपेक्षितेति। तदर्थं नित्यनैमित्तिककर्मविधयः प्रवर्तन्ते कर्मणो ह्यन्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्र शुद्धादर्श इव शास्त्रार्थोपदेशः प्रतिफलति तथा च श्रुतिः-

कर्मणा ज्ञानमाप्नोति ज्ञानेनामृती भवति।

तच्च द्विविधं कर्म विहितानुष्ठानं निषिद्धपरिवर्जनं चेति॥

तत्र नित्यानि–अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोम इत्यादीनि नैमित्तिकानि तु जातेष्ट्यादीनि

वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जातेष्ट्यादेः

तेष्वेतेषु कर्मसु सत्यधिकारेऽननुष्ठानं प्रत्यवेतीत्यधिकार आवश्यकः स च कश्चित्पुरुषप्रयत्नसाध्यः कश्चिच्च ज्ञानसाध्यः॥ तथाहि–

अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तः
कर्मण्यधिक्रियत इति सर्वतान्त्रिकसंमतम्

अर्थित्वं च फलकामना सा च विषयसौन्दर्यलभ्येति वैषयिकाणां स्वर्गादौ विरक्तानां तु परमानन्दरूप मोक्ष इति न तत्र यत्नः प्रयोजकः। सामर्थ्यं पुनर्द्विविधम् करणपाटवं वित्ताभिजनसंपत्तिश्च तत्राद्यमपि स्वयत्नासाध्यम् मूकान्धपंगुबधिरादीनां हि अनुमंत्रणाज्यावेक्षणविष्णुक्रमणाद्यसामर्थ्यान्नाधिकारः द्वितीयं तु यत्नसाध्यम् वित्ताभिजनसंपत्तेः कर्तुं शक्यत्वात् वैदुष्यं तु ब्रह्मचर्यांगकस्वाध्यायाध्ययनसाध्यज्ञानवत्ता सापि यत्नसाध्यैव चतुर्थं तु पातित्याद्यभावरूपं निषिद्धवर्जनसाध्यमित्येतदपेक्षितमेव अत एव हि ईदृशसाधनसम्पत्तिमतामनुष्ठितान्यपि महाहिंसारूपाण्यपि ब्रह्मवधगोवधाश्ववधादीनि परमाभ्युदयसाधनान्येवेति भगवदाज्ञारूपा भगवती श्रुतिराह—

ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत

मधुपर्काश्वमेधादौ च गवाश्वादीनीति, सौत्रामण्यां च सुराग्रहादिकम् दृश्यते हि लोके केवलसर्पपमात्रस्यास्वादनमात्रेणैव मरणहेतोः कालकूटस्य वैद्यकशास्त्रोक्त भावनापरिकल्पितस्य राजयक्ष्मादिनिवर्तनद्वारा तुष्टिपुष्ट्यादिहेतुत्वमिति

नास्तिकवादो न युक्तः। दावदग्धे वेत्रबीजादौ कदलीकाण्डजनकत्वदर्शनेन सहकारिसामर्थ्यात्पदार्थानां विचित्रशक्तिमत्ता सद्भावात। एवं च स्थितमेतावत् यदेतेषु उक्तविधेषु नित्यनैमित्तिककर्मसु यथोक्तसाधनसम्पत्तिमता समनुष्ठितकर्मवत् क्रियमाणस्य हिंसादेर्वैधत्वेन तत्र प्रत्यवायाभावोऽभ्युदयसिद्धिश्च। तत्रैव च मांसभक्षणमपि न प्रत्यवायहेतुः। वैगुण्ये च कर्मणो वैधत्वाभावेन महाननर्थः।

न हि यथोक्ताधानसाध्याहवनीयाद्यभावे यथोक्ताध्ययनादिजन्यज्ञानाभावेऽपि लौकिकाग्निज्ञानमात्रेण कर्माण्यनुष्ठातुर्न हिंसादिजन्यानर्थ इति युज्यते। अन्यथा स्वर्गकामत्वरूपविशेषणसद्भावेन शूद्रादेरपि ज्योतिष्टोमाद्याधिकारापत्त्याऽग्निविद्यासाध्यकर्मणि शूद्रादेरवैधत्वेन अग्निहीनत्वेन च नाधिकार इति षाष्ठो शूद्राधिकरणन्यायो विरुध्यते। यथा हि महापिपसाध्येषु रसायनेषु वैद्यकशास्त्रोक्ततदनुपानादिसाधनसम्पत्तिवैगुण्येन निष्फलत्वमनर्थहेतुत्वं च दृश्यते तादृगेवामुत्रापि,

तदेवं शास्त्रार्थे स्थिते इदं विचार्यते 'इह परमनास्तिकपाखण्डादिभूयिष्ठे तमोगुणैकप्रधाने कलियुगे कथमेतेषां लोकानामधिकार इति तत्र तावदनधिकार एवेति प्राप्तमित्याह-

अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्॥
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

इति न्यायमूलकवाक्येनाग्निहोत्रोपलक्षितश्रौतकर्मणां निषेधः प्रतीयते। गवालंभो मधुपर्के। स्वभावेनापि जिह्वालौल्यवानयं लोको यथाकथंचिच्छास्त्रावष्टम्भं पुरस्कृत्य सपिंडासपिंडाज्ञप्तानाज्ञप्तेष्वपि दारेषु विचरन् नानाविधमद्यमांसादि खादन् दण्डार्थमुद्यतान् राजादीन् प्रत्यपि धर्मध्वजाविष्करणेन-

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्॥
आगर्भसंभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत।
अनेन विधिना जातः क्षेत्रज्ञोऽस्य भवेत्सुतः॥

सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति। इति

अग्नीषोमीयं पशुमालभेत ।

इति च वाक्यानि प्रमाणयन् यथेष्टं विचरेदेव तदर्थं च एताः स्मृतयो मुनिभिः प्रणीताः कलौ पंच विवर्जयेदित्यादयः यद्यपि विहितानुष्ठानाद्धर्मातिशयस्तथापि एतद्युगोत्पन्नजनानां यथोक्ताग्निविद्यावित्ताधिकारवैगुण्यप्राचुर्यादवैधहिंसादिनाऽधर्मस्यैव भूयिष्ठतासंभवात् नहि निश्चितमहानर्थसाधने पाक्षिककिंचित्सुखसाधनं च प्रेक्षावन्तः प्रवर्तयन्ति । तदुक्तम्–

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या वृथोद्यमाः

प्रायेणाऽल्पायुषो मर्त्याः संभवन्ति कलौ युगे ॥ इति

दृश्यंते हि बहुशः त्रिचतुरादिवर्षकमपि माणवकमुपनीयैव मेधाजननकर्मोत्तरकालं चतुर्थ एव दिने समावर्त्य पंचमदिने विवाहयंत तत्र कुतस्त्यमुपाकर्म कुतस्तरां च वेदाध्ययनं कुतस्तमां च कर्मोपयिकं ज्ञानमिति ॥

अत्रोच्यते–यद्यप्युक्तरीत्या न्यायमूलकनिषेधेनाननुष्ठानं तथापि न्यायमूलकप्रतिप्रसववाक्येन तदनुष्ठानं संभवत्येव तथाचोक्तम्–

यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदो महीतले

अग्निहोत्रं च संन्यासं कलौ तावत्प्रवर्तयेत् ॥ इति ।

कालिवर्ज्यप्रकरणे चाग्निहोत्रहवण्याश्चलेहो लीढापरिग्रह इति । लेहमात्रवर्जनमपि लिंगम् । अन्यथाऽप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः तत्र च कर्मणां नित्यवच्छ्रवणबलाद्यथाशक्तिपक्षोऽपि विध्यनुमत इति लभ्यते । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यादि चोदनाभिर्यावज्जीवमनुष्ठानविधानात् नित्यतावगम्यते । नहि तत्र सायंप्रातःकालाद्यवच्छिन्नजीवनरूपनिमित्तवशात् यथोक्तहोम्यासंपत्तिः शक्याधिगमा. न च गुणानुरोधेन प्रधानबाधो युज्यते इति प्रतिनिध्युपादानमपि विधिरनुमन्यत एव । ननु तथापि अग्निविधिकारमंत्राणां प्रतिनिध्यभावस्य षष्ठे व्यवस्थापितत्वेन कथंप्रतिप्रसववाक्यादपि कर्माणि प्रवृत्तिः किं च

निष्फलानि दुरन्तानि तुल्यायव्ययकानि च

विरुद्धानि च कार्याणि नारभेत विचक्षणः ॥

इति न्यायात् । पूर्वोक्त वैद्यकशास्त्रोक्तरसायनदृष्टान्तेन च पाक्षिक किंचिच्छ्रेयोपेक्षया महान्तं हिंसादिजन्यानर्थं पश्यन् कथमिवोक्तं कर्मानुष्ठानेऽध्यव-

सायमपि विदधीतेति चेत् सत्यं तदेतत्सर्वं वैद्यकशास्त्रोक्तरसायनदृष्टान्तवदेवेत्य-वेहि। यो हि अधिगतशास्त्रार्थोऽपि वैद्यो महाविषसाध्यानि रसायनान्यनुतिष्ठति स तु यथोक्तभावनादिसंस्कारकद्रव्यसंभारे सत्येव। यदा तु तादृक्सम्पत्तिं नाक-लयति तदा तदनुकूलौषधि विशेषालाभे तास्मिन्प्रयोगे महाविषादिकं न प्रयुंक्ते किं तु स्वसंपादितसंस्कारकद्रव्यसाध्यसंस्कारानुगुणं तथाविधमेव द्रव्यविशेषं स-मवधत्ते तेन च राजयक्ष्मादेरनिवृत्तावपि तदपेक्षया क्षुद्ररोगा निवर्तन्त एव। यथा वा पंचाक्षरविद्यावत्सु य एव सम्यग्भूतविद्यायां निष्णातः स एव महा-भूतोच्चाटनार्थं मंत्रान् प्रयुंक्ते यस्तु तादृक्स्वसामर्थ्यं स्वात्मनि नाकलयति स तु क्षुद्रभूतेष्वेव मंत्रप्रयोगमातनोति। साहसेन तु विपरीतमातिष्ठन् भूतेनैव ग्रस्यत इति सार्वलौकिकव्यवहारसिद्धं। तथैव प्रकृतेऽपि यथोक्त ब्रह्मचर्यांगकाध्ययन-साध्यज्ञानवान्। तथाविध परमान्तिकर्त्विक्सम्पत्तिमान् स्वस्वोचितवृत्त्युपा-र्जितन्यायागतवित्तसंपन्नः। दैवादापतिताय कचिद्ग्रामादिकवैगुण्यादेः प्रतिवि-धानसमर्थः। स सुखेनानुतिष्ठतु तत्पशुसाध्ययागादीन्। तादृशश्चास्मिन्युगे दुर्लभ एव। लक्षकोटिषु मध्ये कदाचिदेको लभ्येत न वेति। यस्तु न तादृशः कथंचित्प्रयोगपर्याप्तज्ञानो यथाशक्ति कथंचित्संपन्नवित्तादिः स तु सुखेनाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यादीनि चरुपुरोडाशामिक्षाज्यादिसाध्या-नि कर्माण्यनुतिष्ठतु त्रिकाण्डमण्डनप्रभृतिभिस्तथाविधानामपि कर्मस्वधिकार इत्युक्तवात् उक्तं च–

सूर्यग्रहे कुरुक्षेत्रे मेषीकृष्णाजिनादिकम्।
चण्डालादपि गृह्यापि यजेतावश्यकैर्मखैः॥ इति

गुणानुरोधेन प्रधानबाधस्यान्याय्यत्वादिति भावः। यानि तु ज्योतिष्टोमा-दीनि तत्रापि संभावितानर्थहेतुहिंसादिविषयान् छागादिपशून् अकृत्वा तत्स्था-ने तद्देवताकान् पिष्टपशून् वा घृतपशून्वा विधाय यागं समापयेदेव तदेत-त्सर्वं न्यायसिद्धमेवाभिसन्धाय भगवान्मनुर्मांसभक्षणविधिप्रकरणे प्रसंगाद्दर्श-यति स्म। तथा हि–

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने।
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया॥

प्रोक्षितं भक्षयेदित्यस्य यज्ञे हविःशेषं भक्षयेदित्यर्थः। श्राद्धे निमन्त्रितोऽपि निमन्त्रयितॄणां ब्राह्मणानां च काम्यया। इच्छया स्वयं व्रतवानपि भक्षयेत्। न तेन व्रतक्षतिरिति भावः। तदुक्तं—

हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः॥ इति। तथा—
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्य ह्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥
नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः॥
न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः॥
नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्।
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कथंचन।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥

इत्युक्त्वा नन्वेवं महान्तं पाक्षिकं प्रत्यवायं पश्यद्भिराधुनिकैर्विषयसंगेन सम्पन्नपरिपक्वज्ञानैरत्यवश्यकानि नित्यनैमित्तिककर्माणि कथमनुष्ठेयानीत्यत आह

कुर्यात् घृतपशून् संगे कुर्यात् पिष्टपशूंस्तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन। इति।

यद्यप्यत्र विषयादिपदं नोपात्तं तथापि केवलसंगशब्दोऽपि योगरूढिभ्यां विषयसंग एव वर्तते। यथा केवलवैराग्यशब्दो विषयवैराग्ये। तथा च प्रयुंजते लोकास्तथाविधपुरुषं दृष्ट्वैव अयमतिशयेनासक्तः अयं तु विरक्त इति। ये हि उपनयनदिनात्पंचमदिन एव विवाहयन्ति कथं न ते विषयसंगवंतः कथं च तेषामध्ययनं सांगं। अधीत्य स्नायादिति हि श्रूयते। इदमुक्तं भवति - न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यादिनिषेधवाक्यपर्यालोचनया हिंसाया अधर्मजनने औत्सर्गिकी शक्तिरवगम्यते सा पुनरग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति वाक्यपर्यालोचनया यागादिकर्मविशेषेऽपोद्यते। यथा दावदहनसंस्कार

चेत्रबीजस्य वैत्रांकुरजनने सहजशक्तिं प्रतिबध्य कदलीकाण्डजननादित-द्विपरीतशक्तिमादधाति ॥ यथा वा विषादेः स्वाभाविकीं मारकत्वशक्तिमुपमृद्य-भावनादिसंस्कारविशेषस्तद्विपरीतां मृतोज्जीवनशक्तिमादधाति । तथा यागा-दावपि प्रोक्षणोपाकरणादिसंस्कारविशेषस्तत्रत्यां महानर्थसाधनताशक्तिमुपमृद्य परमपुरुषार्थसाधनता शक्तिमादधाति इति शास्त्रतत्त्वम्। तत्र च विगुणे प्रति-बंधके कथं सा शक्तिः प्रतिबध्येत। मणिमन्त्रौषधादयो हि यथोक्तलक्षणसम्पन्ना एव वह्न्यादेर्दाहकताशक्तिप्रतिबन्धकस्येशते । वर्णभ्रेषादिनापि विगुणे मंत्रे प्रयुक्ते असंजातशक्तिप्रतिबंधः । वह्निर्दहत्येव भुजंगो दशत्येव । तस्माद्व-ह्निभुजंगाद्याकलने प्रवृत्तेन तथाविधसंपूर्णं सामग्रीमतेव भवितव्यम्। एवमेव लौकिकविषयेष्वासंगवान् पदे पदे कर्मवैगुण्यस्य संभावितत्वात् तादृशयागादौ पशुं हन्तुं कदापि नेच्छेदेव । तथाविधहिंसायाः वृथात्वात् अनुष्ठितयागफला-जनकत्वादिति । न केवलं वैयर्थ्यमात्रं अपि तु आत्यंतिकानर्थहेतुत्वं चे-त्याशयेनाह—

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥

ह शब्दः प्रेत्य खादन्ति ते च तानित्यादि प्रमाणप्रसिद्धि द्योतनार्थः । एतेन युधिष्ठिरादिकृतराजसूयाश्वमेधादियज्ञप्रशंसां कुर्वतां प्रेत्य खादन्ति ते च तानित्यादिना कर्मनिन्दां च कुर्वतां साक्षात्परब्रह्मस्वरूप श्रीमद्द्वैपायनमुखार-विन्दनिसृतानां श्रीमद्भागवतादिपुराणवचनानां परस्परविरोधशंकैवानव-काशदुरवस्थेति ध्येयम् । उक्तन्यायेन यथाकथंचिद्विद्वदविद्वत्कृतकर्मविषय-त्वात्। अतएव महाभारते मोक्षधर्मे देवर्षिसंवादे देव शब्दोपलक्षित संपूर्णाधि-कारवतां प्रत्यक्षपशव एव यज्ञेष्वालभ्याः ऋषिशब्दोपलक्षितेन तदपेक्षया न्यून सामग्रीकेणाधिकारिणा पिष्टपशव एवालभ्या इति महता प्रबन्धेन समर्थितम् ।

प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति ।

इत्याद्यर्थ वादाज्ञानबलात् रात्रिसत्रे विधिकल्पनमिव प्रकृतेऽपीतिहासरूपा-र्थवादस्य विधिकल्पकत्वेनैव प्रामाण्यम् ।

ननु तत्रार्थवादे देवानां मुख्यपश्वालंभनेऽधिकार ऋषीणां तु पिष्टपश्वालंभन इत्युक्तत्वेऽप्युपलक्षणपरतया विद्वदविद्वद्विषयताकल्पनं कस्मादास्थेयं इति चेद्-भ्रान्तोऽसि तथात्वे इतिहाससर्वार्थवादानामप्रामाण्यमेव स्यात्। तेषां हि क्वचित्सन्निहितविधिस्तावकत्वेन वा क्वचिच्च विध्यसंनिधाने रात्रिसत्रन्यायेन तत्कल्पकत्वेन वा प्रामाण्येन पुरुषार्थपर्यवसायिता।

इतिहासास्तु सर्वे आसीद्दशरथो राजेत्यादिव्यक्तिविशेषं पुरस्कृत्यैव प्रयागादौ तस्मै ददौ महत्फलमवाप्तवान्। तथा त्वमपि राजेन्द्र तथा तत्कर्तुमर्हसीत्यादयः प्रवर्तंते। ते च यद्युपाख्यातसंबोध्यमात्रपुरुषाधिकारिकपरा एव स्युस्तथात्वे अस्मदादीनां प्रयागमहात्म्यादिश्रवणमनर्थकतामापद्येतेति यत्किंचिदेतत्। स्पष्टतरश्चात्र मनुवाक्ये कुर्यादिति लिङ् प्रत्यय इति न काप्यनुपपत्तिः। ननु घृतपिष्टादौ पशुत्वाभावात् कथं तत्र पशुशब्दप्रयोगः कथं वा तदनुष्ठानेन पशुमालभेतेति शास्त्रार्थसिद्धिः स्यादिति चेन्मैवम्। तमेतमभिषिंचनीये पुरुषं पशुमालेभे इत्यादौ पुरुषे साक्षान्मन्त्रद्रष्टरि शुनः शेपेपि पशुशब्दप्रयोगात्। न हि तथाविधे गौण्यपि पशुशब्दो युक्तः। न च तथापि यज्ञसाधनीभूतप्राणिद्रव्यत्वं तत्राप्यस्त्येवेत्युपपद्यते कथंचित्तत्र प्रयोगो न तु घृतपिष्टादिवदिति वाच्यम्। मेषत्वमेषीत्वादिजात्यभाववत्यपि चातुर्मास्ये पिष्टप्रतिकृतौ मेषमध्वर्युः करोति मेषीं प्रतिप्रस्थातेत्यादौ मेषमेषीशब्दयोः प्रयोगस्य लोकवेदसंमतत्वात्। यदि च तत्र संस्थानविशेषमादाय तथाविधप्रयोगः। सममेतत्प्रकृतेऽपि पिष्टादिनापि छागाद्याकारानिर्मातुं शक्यत्वात् घृतस्यापि घनीभूतस्य पश्वाकृतिसंपादकत्वं युज्यते एव। यदि च वस्त्रादिना पशुप्रमाणं पश्वाकृतिसमानाकारं पेशीविशेषं निर्माय तत्र घनीभूतं घृतमापूर्य शीतलतरजलपरिपूर्णकटाहादि पात्रविशेषे स्थाप्येत, यदि वा सपेशी विनिर्मुक्त एव स्थाप्येत तदा कथं न संभवेत् घृतपशुः। घृतस्य प्राणिभवद्रव्यत्व सामान्यात् हृदयादिभिरत्यन्तसारूप्यलाभात्। न हि पशुः साक्षाद्धविः किंतु व्रीह्यादिवत्प्रदेयप्रकृतिभूत इति खलुसिद्धान्ताः। हविष्ट्वं तु हृदयाद्यवयवानामेव। न च हृदयादिषु प्राणित्वमस्ति। किंतु प्राणिभावत्वमेव तच्च घृतेऽ

प्यवशिष्टमित्यभिप्रेत्य क्लेशसाध्यमपि घृतपशुं प्रथमकल्पत्वेनोपदिष्टवान् । कुर्यात् घृतपशुं संग इति ॥

ननु कथं हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षस इत्यादिशास्त्रानुष्ठानं, नहि तत्र हृदयजिह्वाद्यवयवविशेषोऽवगन्तुं शक्यत इति चेन्न । प्रतिकृतिविशेषनिर्माणप्रवीणैस्तत्तद्देशेषु तथाविधजिह्वादिकमपि हि निर्मातुं शक्यम् । न च तथापि व्रीहियवमतीरपः पाययेदित्यादिनाऽऽम्नातस्य पानादेरशक्यानुष्ठानत्वमेवेति चेत् सत्यम् । चातुर्मास्ये मेषस्य मेष्याश्च पिष्टमयपशोरपि शमीपर्णकरीराद्युपवापवदुपपत्तेः । स्यादेतत् अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति प्रत्यक्षश्रुत्याऽऽम्नातस्य पशुत्वजात्याक्रान्तस्य स्मृतिबलात्कथमधिकारिविशेषे व्यवस्थापनं युक्तं । सिद्धे त्वस्मिन्मूले तद्बलात्सर्वापि कल्पना सुवचा । तदेव तु न संभवति स्मृतेः श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात् तदनुरोधेन श्रुतिसंकोचस्याऽन्याय्यत्वात् । अन्यथा औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायति इति श्रुतेः सर्वा वा औदुम्बरी वेष्टयितव्येति सर्ववेष्टनस्मृत्या संकोचापत्त्या विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमिति स्मृतिचरणे जैमिनीयं न्यायव्युत्पादनमसंगतमापद्येतेति ।

अत्रोच्यते—स्मृतीनां श्रुतितात्पर्यनिर्णयार्थमेव प्रवृत्तत्वेन तद्बलात्तदर्थाध्यवसायस्यावश्यकत्वात् । तदुक्तमत्रैव मनुना—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥ इति

अत एवोत्तरमीमांसायां वेदार्थनिर्णयाय प्रवृत्तः सर्वज्ञचूडामणिर्बादरायणोऽपि भगवान् बहुशः स्मृतेश्च इत्यादिसूत्रैः स्वोक्तार्थे स्मृतिं संमतित्वेनोदाजहार । ननु पौरुषेयवाक्यबलादपौरुषेयस्य बाधनीयतेति चेत् भ्रान्तोऽसि । न हि वयं पश्वालंभनवाक्यं बाधितार्थमिति वदामः । किन्तु युगविशेषपरं वा पुरुषविशेषपरं वेत्येतावत् । अत एवोक्तं तत्रैव मनुना—

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन्मनुष्यानुपवर्तते॥
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु त्वेषां वयो ह्रसति पादशः॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे धर्मा युगह्रासानुरूपतः ॥ इति ।

अन्यथा पौरुषेयग्रंथव्याख्यानानि भाष्यादीन्यपि व्यर्थानि प्रसज्येरन् । किं बहुना तदर्थनिर्णायकन्यायग्रथनात्मकं पूर्वोत्तरमीमांसाद्वयमप्यसंगतत्वमापद्येत । तस्यापि पौरुषेयत्वेन श्रुत्यर्थव्यवस्थापकत्वानुपपत्तेः । यदि च मीमांसायाः न्यायशास्त्रत्वाद्युक्त्युपेतार्थनिर्णायकता संभवति तर्हि वेदसमकक्षस्य न्यायोपबृंहितस्य सुतरामुपपन्नं व्यवस्थापकत्वम् । साक्षात्पशुवधे पाक्षिकपरमानर्थापत्तिरूपबाधकन्यायस्योक्तत्वात् । कुर्यात्पिष्टपशुमित्यादेरपि साक्षाच्चतुराननात्मजेन सकलवेदद्रष्ट्रा मनुना प्रणीतत्वेन वेदमूलकत्वस्याऽऽवश्यकतया उदितानुदितहोमविधायकवाक्यवद्व्यवस्थायाः प्रामाण्योपपत्तेः । तदुक्तम्—

स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।
विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ॥
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नाऽन्येन केनचित् ।
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ।
पुनाति पंक्तीर्वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ॥
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ।
इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ॥
अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ इति ।

एतेन संग आसक्तौ पशुमांसभक्षणाद्यनुरागे सति पिष्टमयीं वा घृतमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादेदिति केषांचिद्व्राडमीमांसकानां व्याख्यानान्यपहसनीयानि बोद्धव्यानि। अत्यन्तासंबद्धार्थकत्वात् । नहि पशुमांसभक्षणे लोलचित्तः पिष्ट-

पशुना तां तृप्तिमवाप्नोति। यो हि नास्तिको निर्दयतरः केवलक्रव्यादरूपः स एवैवं कामयेन्नाम यत्परमांसेन स्वमांसपोषणम्। स कथं सहस्रशोऽपि विहितेन घृतपशुना वा पिष्टपशुना वा शाम्यतु। न च मांसभावनया जग्धस्य तत्कार्यकारित्वम्। अमृतबुद्ध्या पीतस्य हलाहलस्यापि मरणहेतुत्वानापत्तेः। इत्यलमपहसनीयव्याक्रियानिराक्रियाविस्तरेणेति।

ननु कथं भवद्व्याख्यानपक्षेऽपि पशुकार्यं पिष्टपशुः कुर्यादिति चेत् न। यत्र ह्यदृष्टद्वारा फलेन सह कार्यकारणभावस्तत्र च विधिबोधितत्वादेव तादृशादृष्टजनकतामातिष्ठामहे। अलौकिकार्थे सामान्यतो दृष्टस्याऽप्रयोजकत्वात्। श्रूयते हि यूपप्ररोहप्रायश्चित्ते पशुपुरोडाशपूर्णाहुतिस्रुवाहुतीनां विकल्पः। नहि तत्र कुतर्कः साधनस्य बाधनस्य चेष्टे। तदुक्तम्—

पुराणं मानवो धर्मः सांगो वेदचिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

किंच—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते तूभे हेतुशास्त्राश्रयो द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ इति।

यद्यप्यत्रोक्तं स्मृतिचरणोक्तन्यायाविरोध इति तदप्यसंगतमेव। तथा हि न तावत्स्मृतित्वमेव सर्ववेष्टनस्मृत्ताप्रामाण्ये प्रयोजकं किंतु लोभमूलकत्वादिकमेवेति शवरस्वामिप्रभृतयो वर्णयन्ति। न चासौ प्रकृते हेतुः संभवति वैसर्जनीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति यूपहस्तिनो दानमाचरंतीत्यादौ कथंचिल्लोभमूलकतायाः संभवदुक्तिकत्वेऽपि सर्ववेष्टनस्मृतिकर्तुर्घ्यंगुलमात्रवस्त्रालाभे इति मीमांसकमन्यः कथं कल्पयितुं न जिह्राय। अन्यथा सुवर्णसूत्रनिर्मितवस्त्रेण वेष्टयितव्येत्यवक्ष्यत्। वस्तुतस्तु तदप्यसंबद्धमेव। अध्वर्युणा वाससि गृहीते स्मृतिकर्तुः कथं लोभः सिद्धः। यद् घ्यंगुलमात्रचीवराशया कर्मवैगुण्यसम्पादिकां स्मृतिं

प्राणिनाय । अस्तु तत्र यथाकथंचित्किमेतया नः कुचर्चया । घृतपिष्टपशुविधातुः स्मृतिकर्तुस्तु नायं लेशकलंकोपि प्रत्युत यः साक्षादेव मुख्यः पशुरित्यागृह्णाति स एव स्त्रीयं जिह्वालौल्यपरमांसगृध्नुतां वाऽऽविष्करोतीत्यलम् । नापि भ्रमप्रमादविप्रलंभमूलकतासंभवदुक्तिका । यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः इत्युत्तरवाक्यस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवध इति पूर्वग्रन्थस्य च प्रणयनेन विशेषदर्शनानुमानात् । विप्रलंभकत्वशंका तु निर्बीजैव । अन्यथा वेदस्यापौरुषेयत्वेऽप्यध्यापकैर्विप्रलंभकैः कैश्चिदन्यथा पाठितः किं न स्यादित्यादि शंकापिशाचीभिः सर्वत्राऽनाश्वास एवापद्येतेति दिक् । परमार्थतस्त्वेतत्सर्वं भाष्यकर्तुरेव पाण्डित्यम् । यद्वैदिकस्मृतीनामप्रामाण्यकल्पनमभ्युपेत्य चेदं वदामः । आस्तां श्रुतिविरोधेन स्मृतीनामप्रामाण्यम् । तन्मानवातिरिक्तविषयकमेव । मानवस्मृतेः साक्षाद्वेदेनैव—

यद्वै किंचन मनुरवदत् तद्भेषजम् ।

इति साक्षादेव प्रमाणत्वेनोपादानात् । एवं च जैमिनिस्मृतेरेवास्मिन्नंशे श्रुत्या बाधितत्वेनाप्रामाण्यम् । स्मृत्यंतरे सावकाशत्वाच्च । नात्यंतबाधोऽपि । यत्तु नित्यानित्यसंयोगविरोधेन वेदाप्रामाण्यापत्त्या बबरप्रावाहणिरित्यादाविव नैतादृशस्थले मन्वादिशब्देन एते मन्वादय इति तांत्रिकमन्यानां पांडित्यम् ।

ननु व्रीहिभिर्यजेतेत्यादावप्यलौकिकव्रीहिभूतं कल्पयिष्यन्ति जातेः शास्त्रार्थत्वे प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात् तस्य ग्रथनिर्माणेऽसामर्थ्यान्नेति चेद्व्रीहित्वादेरपि पुरोडाशनिर्मातृत्वाभावात् समम् । व्यक्तिद्वारा चेदत्रापि । किंच राजसूयाश्वमेधानुष्ठातॄणामिदानीमभावात् । हरिश्चन्द्रयुधिष्ठिरादीनां च श्रुत्यादिसमधिगम्यत्वेन मनुबबरादिपंक्तिनिविष्टत्वात् । कथं तत्कर्मबोधकवेदस्य प्रामाण्यमिति स एव प्रष्टव्यः । अपि वा नैमित्तिकप्रायश्चित्तविधीनां कथं प्रामाण्यं तस्य सार्ववेदिकत्वे निमित्तताव्याघातादित्यलम् । स्मृतिश्चात्र मानम्—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ इति

न चेदाहृतश्रुतिस्मृत्योः पिष्टपश्वतिरिक्तांशे प्रामाण्यप्रतिपादकत्वेन उपपत्तिरिति वाच्यम्। उभयत्र यत्किंचेति सर्वनामभ्यां विशिष्य तत्तत्पदार्थप्रामाण्यस्योक्तत्वात्। अन्यथा—

यत्किंचित्प्राचीनमग्नीषोमीयं तेनोपांशु चरन्ति।

यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयामनुब्रूयात्।

इत्यादौ सावकाशनिरवकाशभावेन बाध्यबाधकभावः।

यदाहवनीये जुहोति गार्हपत्ये पत्नीसंयाजान् जुहोति।

इत्यादौ सामान्यविशेषभावेन बाध्यबाधकभाव इति वैषम्यं न स्यात्। स्मृत्यंतराद्विशेषमुपपादनाच्च। न ह्येतादृशस्मृतेरनर्थकत्वमुररीकृत्यार्थांतबाधः समुचितः। कुल्लूकादिव्याख्यानानां निरस्तत्वात्। श्रुतेस्त्वधिकारविशेषपरतायाः उक्तत्वेनोभयप्रामाण्येऽपि क्षत्यभावात्।

ननु यद्यप्यत्र मांसभक्षणेऽत्यन्तासक्तो सत्यां पिष्टघृतपशून्कृत्वा खादेदिति विधिरत्वेन व्याचक्ष्महि। तदेवोपन्यस्तदोषैरुपालभ्येमहि न चैवं ब्रूमः। आसक्तो भक्षणस्य रागतः प्राप्तत्वात्। किंतु एवं कृत्वापि खादेत् न तु वृथा विधिं विना पशून्हन्यादिति तात्पर्यार्थ इति चेन्मैवम्। निरस्तप्रायत्वात्। न हि प्रत्यक्षमांसभक्षणासक्तस्य पिष्टपशुभक्षणं रागप्राप्तं येनैवमुक्तिः संगच्छेत। किं तु कुर्यादित्युभयत्र विधिप्रत्ययद्वयभंगः किं बलादास्थीयते। न ह्यत्र यदभिचारयेत् रुद्रायास्ये पशून्निदध्यादितिवद्विधिशक्तिप्रतिबंधकं यच्छब्दाद्युपबंधं पश्यामः। प्रकरणबलादेवमास्थीयत इति चेत्। साधुसमर्थिता मीमांसा प्रकरणबलाच्छ्रुतिमन्यथयता लोकोत्तरप्रज्ञेन। अप्रवृत्तप्रवर्तनार्था हि किंत्वश्रुतिः कथमविवक्षितार्थेति वक्तुमुचितम्। आख्यातत्रयोपेतत्वादेकवाक्यता तु नास्त्येव येन वाक्यभंगभियापि कुसृष्टिरास्थीयते। न च गत्यंतराभावादेवं व्याचक्ष्महे इति साम्प्रतम्। प्रकारान्तरेणैव राजमार्गस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात्। मांसभक्षणविधिनिषेधप्रस्तावे यागीयपशोः कः प्रसंग इति चेत्। तत्प्रस्तावेनैव त्रिगुणाधिकारिकर्तृकयागानामनारंभापत्त्या नित्यकर्मसु पाक्षिकानर्थसंभा-

वनाशून्यपशुप्रतिनिधिविधानस्यावश्यकताया उक्तत्वात् । ग्रंथस्वारस्येनैवैता-दृशार्थस्य सुधिया परिस्फूर्तिकत्वाच्च । त्वत्पक्षे तु केवलमसंगतानुवादेन संपूर्णस्य विधिद्वयोपेतस्य पूर्वाधस्याजागलस्तनायमानतापत्तिरेव । स्वरसभंगेनापि प्रकरणानुरोधे तु दर्शपूर्णमासप्रकरणतः पूषानुमन्त्रणमपि नोत्कष्टव्यं स्यात् । तथा च कथंचित्पोषणादिगुणयुक्तसमवेतदेवताप्रकाशकत्वेन प्रकृतावेवोपयोग-स्योपपादयितुं शक्यत्वेन तार्तीयकन्यायस्य जलांजलिप्रदानमवाशिष्येत । तस्मा-दुक्त एवार्थः साधीयान् । यद्वा सज्यते बध्यते पुरुषोऽनेनेति संगो नित्यनैमि-त्तिककर्मविधिस्तत्रेत्यर्थः ।

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ।

इत्यादिश्रुतौ नित्यनैमित्तिककर्मणां ऋणत्वेनाभिधानात् । तथा च न कोऽपि शंकाशूकः। भारतेतिहासरूपार्थवादानुमितविधेराधिकारिविशेषपरतायाः उक्त-न्यायेनावश्यकतायाः प्रदर्शितत्वाच्चेति दिक् । तदेतत्सर्वं शबरस्वामिभाष्यमभ्यु-पेत्य समाहितम् । परमार्थतस्तु नायं भगवतो जैमिनेः सूत्रकारस्याशयः । यत्स्मृतीनां परमवैदिकशिरोमणिभिः साक्षान्मन्त्रद्रष्टृभिः प्रणीतानामप्रामाण्य-मिति । यस्मात् ।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
योऽवमन्येत ते तूभे हेतुशास्त्राश्रयो द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

इति पूर्वोदाहृतमानववाक्येषु महान्प्रत्यवायः श्रूयते । तदेतत्सर्वमनुसन्धानै-र्भट्टाचार्यैरन्यथैवेदमाधिकरणमारचय्य शाक्यादिस्मृतय एवोदाहरणमिति प्रतिज्ञाय शाबरभाष्यं प्रत्यक्षेऽपि सपरिकरं च स्वप्रतिज्ञातार्थः प्रत्यपादि । उक्तं चैतत्तन्त्रवार्तिके—

श्रुतीनां स्मृतिमूलत्वे दृढे पूर्वं निरूपिते ।
विरोधे सत्यपि ज्ञातुं शक्यं मूलान्तरं कथम् ॥
वेदो हीदृश एवायं पुरुषैर्यः प्रकाश्यते ।
स पठद्भिः प्रकाश्येत स्मरद्भिर्वेति तुल्यभाक् ॥

अनुच्चारणकाले च संस्कारैरेव केवलैः ।
तत्कृतस्मरणार्थं वेदोऽध्येतृषु तिष्ठति ॥
तेनार्थं कथयन्तीयं स्मृतार्था कथ्यते श्रुतिः ।
पठिताभिः समानासौ केन न्यायेन बाध्यते ॥
स्मृतिशास्त्रं च यद्येकं भवेत्कृत्स्नमवैदिकम् ।
तन्मुखत्वेकं ततोऽगानि व्यवहारांगतामियुः ॥
कठमैत्रायणीयादिपठितश्रुतिमूलकाः ।
दृश्यन्ते स्मृतयः सर्वा यदोपनयनादिषु ॥
तदा तन्मध्यपात्येकं वाक्यं किंचिदपस्मृतिः ।
मूलान्तरांश्रयं वक्तुं जिह्वा नो न प्रवर्तते ॥
बाधितार्थस्मृतिर्भूत्वा काचिन्न्यायविदा यदा ।
श्रूयते न चिरादेव शाखान्तरगता श्रुतिः ॥
तदा का ते मुखच्छाया स्यान्नैयायिकमानिनः ॥

तथा—

लोभमूलं च यत्तस्याः कल्प्यते सर्ववेष्टनम् ।
तल्लोभः सुतरां सिद्धस्तन्मूलाग्रपरिधानयोः ॥
अधरीयोत्तरीये हि योषितामिव वाससी ।
स्मरेत्कौशीयजातीये नोद्गातेकं गुणाश्विना ॥

इत्यादिना भाष्यं सोल्लुठमुन्मृद्य शाक्यादिस्मृतीनामेव श्रुतिविरोधाद-प्रामाण्यमिति स्थापितमिति संक्षेपः ॥ तदेतत्सर्वं निर्मत्सरैरेव सहृदयैर्भगव-द्भक्तैराकलनीयम् । तेषामेवेदं हृदयंगममस्त्वित्यखिलमतिमंगलम् ॥

सर्वयज्ञेश्वरोऽनेन सर्वयज्ञफलप्रदः ।
सर्वयज्ञैकभुग्विष्णुः प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥

इति श्रीमद्विद्वन्मुकुटरत्नश्रीविश्वनाथसूरिनारायणपण्डितोन्नीता
पिष्टपशुमीमांसा समाप्ता॥
श्रीलक्ष्मीनृसिंहाय नमः ॥

(३)

श्री वेंकटेशाय नमः । हरिः ॐ ॥

कृष्णं रमापतिं नत्वा सत्यजेत्रं जगद्गुरुम् ।

साधयिष्ये पशुस्थाने पुरोडाशं कलौ युगे ॥ १ ॥

ननु कथं पशुस्थाने पुरोडाशः । मुख्याभावे हि प्रतिनिधिग्रहणम् । सत्यं । मुख्यस्य निषेधात् । तथा हि ऋग्वेद ब्राह्मणे द्वितीय पंचिकायाम्-

पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त तस्मादालब्धान्मेध उद

क्रामत् सोऽश्वमाविशत् तस्मादश्वो मेध्योऽभवदथै

नमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किम्पुरुषोऽभवत् ॥

इति॥ ऐ० ब्रा० ६ । ८

(सा० भा०) पुरा कदाचिद्देवाः स्वकीये यज्ञे पुरुषं मनुष्यं पशुमालभन्त तं कृत्वा तेन पशुना यष्टुमुद्युक्ताः । तस्मादालब्धाद्यष्टुमुद्युक्तान्मनुष्य पशोर्मेधो मेध्यो यज्ञयोग्यो हविर्भाग उदक्रामन्मनुष्यं परित्यज्याऽन्यत्रागच्छत् । गत्वा च स भागोऽश्वं प्राविशत् । यस्मादेवं तस्मादश्वो यज्ञयोग्योऽभवत् । अथ तदानीमुत्क्रान्तमेधं परित्यक्तहविर्भागमेनं मनुष्यं देवा अत्यार्जन्तातिशयेन वर्जितवन्तस्तस्मिन्पशुत्वमपि नाकुर्वन् । देवैः स्वीकृत्य परित्यक्तः स मनुष्यः किंपुरुषः तन्नाम किन्नरावान्तरजातिरभवत् ॥

अथ द्वितीयं पर्यायं दर्शयति—

तेऽश्वमालभन्त सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत् स गां

प्राविशत्तस्माद्गौर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त

स गौरमृगोऽभवत् । इति ।

आलब्धादश्वात्स मेधो यज्ञयोग्यो गां प्राविशत् । गोजातियुक्तोऽभवत् ॥ तदानीमयोग्यत्वेन परित्यक्तः अश्वः गौरमृगोऽभवत् ।

तृतीयपर्यायं दर्शयति—

ते गामालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत्सोऽविं
प्राविशत्तस्मादविर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमत्यार्जन्त
स गवयोऽभवत् । इति ।

अविजातिः प्रसिद्धा । गवयो गोसदृशो मृगविशेषः ।

चतुर्थपर्यायं दर्शयति—

तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्सोऽजं प्राविशत्
तस्मादजो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत् ।

अजजातिः प्रसिद्धा । उष्ट्रो दीर्घग्रीवः ।

अजं पुनरपि प्रशंसन्ति—

सोऽजे ज्योक्तमामिवारमत तस्मादेष एतेषां पशूनां
प्रयुक्ततमो यदजः । इति ।

स मेधाख्यो यज्ञयोग्यो भागस्तस्मिन्नजे ज्योक्तमामिव अतिशयेन चिरकाल-मेवारमत क्रीडितवान् तस्माच्चिरकालमेव सद्भावात् स अजः एतेषां पूर्वो-क्तानां मध्ये प्रयुक्ततमः शिष्टैरतिशयेन प्रयुक्तः ।

पञ्चमपर्यायं दर्शयति—

तेऽजमालभन्त सोऽजादालब्धादुदक्रामत्स इमां प्राविशत्
तस्मादियं मेध्याऽभवत्त्थैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स शरभोऽ
भवत् । इति ।

इमां पृथ्वीम् । देवैः स्वीकृत्य त्यक्तः स अजः स शरभः अष्टभिः पादैरुपेतः सिंहघाती मृगविशेषः ।

प्रासांगिकतयोक्तस्य फलं दर्शयति—

त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां
नाश्नीयात् । इति ।

मनुष्याश्वगोऽव्यजेभ्यो मेधस्योत्क्रमणात् यज्ञयोग्याः पशवो नासन् तत

एव तेषां पशूनां संबंधि मांसादिकं नाश्नीयात्।

अत्र कश्चिन्नाश्नीयादित्यनशननिषेध एव न यज्ञनिषेध इति। तन्न। अमेध्या इत्यनेनैव यज्ञनिषेधात् अमेध्यपशुना यज्ञानुष्ठाने यज्ञव्याजेन भक्षणार्थमेवायं प्रयत्न इति ज्ञापनाय भक्षणनिषेधः अतः अनुष्ठानलोपः स्यादित्यतस्तत्प्रतिनिधिभूतं पुरोडाशं विधत्ते—

तमस्यामन्वगच्छन्सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्
तद्यत्पशौ पुरोळाशमनुनिर्वपन्ति समेधेन
नः पशुनेष्टमसत्केवलेन नः पशुनेष्टमसदिति। इति।

तं मेधाख्यं हविर्भागं अस्यां पृथिव्यां प्रविष्टं ग्रहीतुं देवा अन्वगच्छन्। स च मेधो देवैरनुगत उत्क्रान्तुमशक्तः सन् सहसा व्रीहिरभवत्। तथा सति यस्माद् मेध्याः पशवस्तस्मान्निषिद्धे पशौ सति पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति पशुस्थाने पश्चात्कारं अनुस्मृत्य पुरोडाशमनु निर्वपेयुः तदानीं नो अस्माकं समेधेन यज्ञयोग्यहविर्भागैर्युक्तेन पशुना इष्टमसत् इष्टमस्तु। पुरोडाशनिर्वापकर्तॄणां कोऽभिप्राय इति सोऽभिधीयते। नोऽस्माकं केवलेन साधनान्तरनिरपेक्षेण मेधोपेततया सम्पूर्णेन पशुना इष्टमास्त्विति अत्र तात्पर्यज्ञापनाय तद्वेदनं प्रशंसति—

समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति केवलेन
हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद॥ इति।

तथा च सयुक्तिकपशुनिषेधेन तत्स्थाने पशुपुरोडाशस्य विधानात्प्रतिनिधित्वं तस्य स्पष्टं प्रतीयते।

न च पशोः सर्वथा निषेधे बहुशास्त्रविरोधः पूर्वोत्तरविरोधश्च तत्र सर्वत्र पशोर्विधानादिति वाच्यम्। नात्र सर्वथा पशोर्निषेधः किंतु प्रसंगात् पुरुषं वै देवा इत्यादिना कालविशेष एव सर्वपशूनां अमेध्यत्वयुक्त्या प्रतिषेधः क्रियते अत एव तयैव युक्त्या सर्वेऽपि विरोधाः परिहृताः। तत्र—

पशुनालभ्य पुरोडाशं निर्वपन्ति समेधमेवतमा-
लभते तस्य शिरः छित्वा मेधं प्रक्षाल्य समेध-
स्यावद्यति।

इत्यादिना शास्त्रान्तरे समेधस्यैवांगीकारात् अत्र मेधस्य निषेधात्कथं

विरोधः ।

ननु इदानीममेध्याः पशव इत्यत्र प्रमाणाभावात् कालान्तरविषयत्वं निषेधस्यांगीकृत्य पश्वनुष्ठानं किं न स्यात् इति चेत्—

सत्यं । ब्राह्मणो न हन्तव्यः । न हिंस्यात्सर्वभूतानि इत्यादावपि कलिकाल इत्यत्र प्रमाणाभावेनायं निषेधः कालान्तरे न कलिकाल इति स्यात् ।

नच निषेधस्य विहितेतरविषयत्वात् यागीयहिंसायाः विधानान्न दोष इति वाच्यम् । यागीयहिंसाया एवात्र मेध्यत्वयुक्त्या प्रतिषेधात् तथाचामेध्यत्वानिर्णये कथं सन्दिग्धविषये हिंसादौ भवतां प्रवृत्तिः। अनुष्ठातॄणां भगवतामेव कालनिर्णयस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा न हिंस्यादिति निषेधस्यापि कलिकालविषयत्वे निर्णायकाभावेन व्यर्थहिंसायामपि प्रवृत्तिप्रसंगात् ।

नन्वमेध्यत्वयुक्त्या प्रतिषेधः न सर्वपशूनां किन्तु किंपुरुषगौरमृगगवयउष्ट्रशरभानां तेषां अत्र खण्डे प्रकृतत्वात् । तथैव विद्यारण्यभाष्ये व्याख्यानात् ।

इति चेन्न । तथा सति पुरुषगवाश्वादीनां निषेधाभावेन ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेतेत्यादिविधानाच्चेदानीं ब्राह्मणाद्यालंबनं स्यात् । किं च पुरुषादिपरत्वे निषेधस्य न एत उत्क्रान्तमेधाऽमेध्याः पशव इति वाक्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । किम्पुरुषादीनां यागे प्रसक्त्यभावात् । अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत् इति देवैः उत्क्रान्तमेधत्वादिना परित्यागानन्तरमेव किम्पुरुषादीनामुत्पत्तिः तेषां यागे अत्यन्तायोग्यत्वेनाप्रसक्त्या निषेधानुपपत्तिः । तथा च निषेधवाक्यवैयर्थ्यं दुर्वारम् । त एतदिति पदद्वयं च व्यर्थम् । अस्मत्पक्षे तु ते पुरुषादय एते किंपुरुषादय इति उभयग्रहणेन न यथा पुरुषादयो देवैस्त्यक्तास्तथा सर्वे पशवः अन्यैस्त्याज्या इति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभावेन उभयनिषेधार्थपदद्वयसंभवात् । किंच पुरुषपशोः सकाशान्मेधो अश्वं प्रति गत इत्युक्तम् । तत्र किमेकस्मात्पुरुषादुत सर्वेभ्यो वा । नाद्यः । एकं पुरुषं परित्यज्यान्येन पुरुषेण यागस्य कर्तुं शक्यत्वात् देवैः तेऽश्वमालभेतेत्यादि पर्यायचतुष्टयं निषेधादिश्च व्यर्थः स्यात् । द्वितीये तु सर्वे अमेध्याः सर्वेऽपि निषेध्या एव । एवं पर्यायचतुष्टयेऽपि ।

ननु न एत इति निषेधः न तु पशुपुरोडाशस्यार्थवादः न हि निन्दान्यायेन। मैवं। सयुक्तिकनिषेधस्याप्यर्थवादत्वेन परदारां न गच्छेत् न हिंस्यात्सर्वभूतानी-त्यादीनामपि अर्थवादत्वं स्यात्। तथा च निषेधवार्ता लुप्येत किं च यत्र हि निन्दान्यायेनार्थवादस्तत्र वाक्यवैयर्थ्यं तन्त्रम्। तथा च यदृचास्तुवमेतद्-सुरा अन्वायन् इति ऋचो स्तोत्रकरणेन असुरागमपरं भवतीति ऋङ्निन्दा क्रि-यते। न च वृथा ऋङ्निन्दाकरणे प्रयोजनमस्ति। तथा चास्य वाक्यस्य वैय-र्थ्यम्। तथा च नाहि निन्दा ऋङ्निन्दार्थं प्रवृत्ता येन वाक्यवैयर्थ्यं। अपि तु स्तुत्यं स्तोतुं। साम्नास्तुवीतेति विधिः तस्यायमर्थवादः तथा च साम्ना स्तोत्र-करणे असुरागमनं नास्तीत्युक्तं भवति। एवं च यत्र वाक्यवैयर्थ्यं तत्रैव नहि निन्दान्यायः। न चात्र वाक्यवैयर्थ्यं पशुप्रतिषेधार्थत्वात् अन्यथा बहुतिप्रसं-गस्योक्तत्वात्। तस्मात्पशुनिषेधो अदुर्वारः कथमिदानीं पशूनाममेध्यत्वनिर्णय इति चेत्। मास्तु निर्णयः। विषयुक्तान्नसन्देहस्य भक्षणमिव अमेध्यत्वसन्देह-स्यापि अनुष्ठानप्रतिबंधकत्वात्।

अथ सुहृद्भावेन पृच्छन्तं प्रत्युच्येत। श्रीमन्महाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे नारायणीये कलियुगे धर्मनिरूपणावसरे—

> देवा देवर्षयः प्रोचुस्तमेवंवादिनं परम्।
>
> एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिति॥
>
> कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद्वदस्व नः।

श्रीभगवानुवाच—यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा।

> अहिंसा धर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः॥

इत्यत्र कलौ यज्ञादिष्वहिंसैव धर्म इत्युच्यते। अहिंसा युक्ता इत्येव वक्तव्ये धर्मग्रहणबलादेवं विज्ञायते तथा च वेदादिषु हिंसाविधाने तद्विरुद्धं भारतवाक्यं कथं प्रमाणं भवेत्। अतः तत्प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं पुरुषं वै देवा इत्यादिवेदमनुसरन्ति। तेन च तत्रोक्तामेध्यत्वेन हेतुनोक्तन्यायेन सर्वोऽपि विरोधः परिहृतो भवति तथा च तद्व्याख्यानभूतेन भारतेनामेध्यत्वं कलिकाल इत्युक्तं भवति। यदासुरोत्तमानामपि कलिकाले हिंसायुक्तयज्ञाननुष्ठानं तदा का वार्ता मनुष्याणामिति। तथा—

अश्वालंभं गवालम्भं सन्यासं पलपैतृकम् ।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

इति स्मृतिश्चात्र प्रमाणम् । अत्र अश्वालंभगवालम्भनिषेधः श्रूयते न च सयुक्तः ।

योऽश्वमेधेन यजते गामालभेत ।

इत्यादि बहुश्रुतिभिस्तयोर्विधानात् ।

अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः

इत्यादौ अन्येषामपशुत्वेन निन्दया गवाश्वयोः प्रशंसनाच्च । तथा चोदाहृतस्मृतेः प्रामाण्यसिद्ध्यर्थं पुरुषं वै देवा इत्यादिखण्डोपजीवनेनामेध्यत्वयुक्त्या योऽश्वमेधेनेत्यादि यावच्छ्रुतिविरोधः परिहृतः एवं च व्याख्यानरूपयोदाहृतस्मृत्या कलिकाले अमेध्यत्वं पर्यवस्यति । न चात्र गवाश्वयोरेव निषेधः न पश्वन्तराणामिति वाच्यं । तथा सति ब्राह्मणालंभापत्तेः । प्रशस्तयोर्निषेधे अप्रशस्तानामनिषेधस्य स्वत एव प्राप्तत्वात् तन्मूलभूतखण्डे पञ्चानामप्यमेध्यत्वं साधारण्याच्च । तर्हि विहितं पश्वनुष्ठानं कदेति चेत् । शृणु । तत्रैव मोक्षधर्मे-

ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र प्रवर्तते ।
प्रोक्षिता यज्ञपशवो वन्धं प्राप्स्यन्ति वै मखे ॥

इत्यादिना पशुना यजेतेत्यादित्रयीप्रवृत्तिकथनेन तदैव पश्वनुष्ठानमिति संक्षेपः । अधिकं तु बहुवाक्योदाहरणेन तत्र विस्तृतश्चास्मत्कृत बृहत्पुरोडाशमीमांसायां द्रष्टव्यः । तस्माच्च कलिकाले पशुवधानुष्ठानमिति सिद्धम् । इति

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणविद्धद्धुरंधरसराणां श्रीमत्सत्यविजयतीर्थश्रीमच्चरणानां निजशिष्येण वरखेडीतिमणेन विरचिता लघुपुरोडाशमीमांसा समाप्तिमगमत् ॥

(४)

(लेखक— श्रीयुत पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार; "आर्य्य-सेवक")

दर्श और पौर्णमास-यज्ञ के विषय में विस्तृत लेख लिखने की प्रतिज्ञा हम पिछले किसी समयमें कर चुके हैं, किन्तु अनवकाशवश इस वार केवल अवतरणिका का एक अंशमात्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। इनमें से प्रथम पौर्णमास को ही लेना चाहिये। यदि स्थूलदृष्ट्या इस यज्ञ को देखा जाय तो इसमें कुछ भी नहीं है। वेद वेदाङ्ग के जानने वाले मीमांसा के मर्मवित् ऋत्विज लोग यजमान के घर इकट्ठे होकर धान लेते हैं, उन्हें कूटते हैं, पछोडते हैं, पीसते हैं, उनकी उन्नीस टिकियां घी में तलकर पकाते हैं, यज्ञ की वेदि तैयार करते हैं, और घृताहुति के साथ उन उन्नीस टिकियों का कुछ अंश उस तैयार की हुई वेदि में हवन कर दिया जाता है, और फिर थोडा सा भात खाकर विद्वान् लोग अपने अपने घर विदा होजाते हैं।

ऐसे शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों के समय का इससे अधिक उपहसनीय दुरुपयोग कदाचित् कल्पना द्वारा ही विचारा जा सकता हो। परन्तु जब सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाय तो उपहास श्रद्धा में परिणत होजाता है। निस्सन्देह यह सब कर्म-कलाप उपहसनीय ही हो, यदि इसकी तह में कोई गहरा ।व विद्यमान न हो। परन्तु यज्ञ में आसन बिछाना, गाडी में धान लादना, लाना, उतारना, कूटना, पीसना, गूंधना, तलना, आहुति करना, वेदी खोद

ना, उसपर कुशा बिछाना आदि आदि छोटी से छोटी क्रिया भी ऐसी नहीं जो किसी न किसी मन्त्र वा मन्त्रभाग के उच्चारण के बिना होती हो, और वही इस यज्ञ और यज्ञमात्र का मर्म है ।

दर्श और पौर्णमास हैं क्या? बालकों को तथा माता-पिताओं को कुल मर्यादा की रक्षा के पथ पथ में दोहराने का एक साधन हैं। प्रश्न होगा कि फिर इन दोनों में भेद क्या है? इसका उत्तर यह है कि पौर्णमास का केन्द्र घर के बालक हैं, और दर्श का केन्द्र घर के वृद्धजन । पौर्णमास चन्द्र का उदय पक्ष है, और दर्श क्षीयमाण पक्ष है । पौर्णमास यज्ञ में बालकों को नाम ले लेकर आदेश किया जाता है कि पिता ने उन्हें कुल की किसी विशेष मर्यादा के प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये उत्पन्न किया है। यदि दुर्दैव-वश पिता उस कार्य्य को अधूरा भी छोड जाय, तो पुत्रों का कर्तव्य है कि वे उसे पुरा करें। दर्शेष्टि के दिन यही कुल-मर्य्यादा पूरी करने का उपदेश उन्हें एक और प्रकार से दिया जाता है। उस दिन घर के वृद्धजनों की पूजा करके उन्हें कहा जाता है कि देखो कुल की मर्यादा ऐसे पूरी की जाती है, जैसे इन वृद्धजनों ने पूरी की, और जिसके कारण यह आज इतने आदर के भाजन हो रहे हैं शेष विधि दोनों यज्ञों की लगभग एक ही है ।

आज कल लोग पौर्णमास यज्ञ के रस का पूर्णरूप से आस्वादन कैसे करें ? क्योंकि आजकल सन्तान यथार्थ में सन्तान है ही नहीं । सन्तान का अर्थ है, 'जारी रखना', और लोगों की अवस्था यह है कि बी. ए. पास करने के पश्चात् सोचा करते हैं कि अब क्या करना चाहिए। ऐसे संङ्कल्पहीन लोग किस बात को जारी रखना चाहते हैं, जिसके लिये उन्हें सन्तान की अभिलाषा हो? इसलिए उनकी सन्तान यथार्थ में सन्तान नहीं, अपितु वितान है, और यदि अपतान भी कहदें तो कोई हर्ज नहीं। यह सङ्कल्प-हीनता यदि गम्भीर- दृष्टि से देखा जाय, तो एक प्रकार से नपुंसकता है । केवल भेद इतना है कि स्थूल दर्शी लोग शारीरिक नपुंसकता से अत्यन्त घबराते हैं, परन्तु उसकी अपेक्षा शतगुण अधिक शोचनीय परिणाम उत्पन्न करने वाली आध्यात्मिक नपुंसकता से बिलकुल नहीं घबराते । किन्तु जिस समय प्रत्येक कुल

इस बात पर जान देता था कि यदि वह अपने कुल की मर्यादा में कुछ उन्नती न कर दिखाए तो कम से कम उसे हीनतर दशा में तो प्राप्त न होने दे, उस समय पौर्णमास यज्ञों का खेल, शास्त्रमर्मवित् पण्डितों के समय का दुरुपयोग और निठल्लों की शतरञ्ज नहीं था। अब भी जिन जातियों में सङ्कल्प दृढ होते हैं, वहां सन्तान को इसी दृष्टि से देखा जाता है। उदाहरण के लिये पठानों को ले लीजिए। पठान लोगों में पौर्णमास यज्ञ का हीं दूसरा निन्दित रूप अभिचार-यज्ञ अभी तक प्रचलित है। यह ठीक है कि न वहां ऋत्विज होते हैं, न वेद के ज्ञाता, न यज्ञवेदि, किन्तु तो भी हम निस्संकोचरूप से कह सकते हैं, कि वहां अभिचारयज्ञ प्रचलित है। यह बात और है कि वह यज्ञ की पद्धति दूसरी हो।

अभिचारयज्ञ की पठानी पद्धति यह है कि जब कोई पठान किसी दूसरे पठानों को मार देता है तो उसके कुल के लोग निहत (मारे हुए) व्यक्ति के कपडे उसी रुधिर-दिग्ध (खून आलूदी) अवस्था में लेजाकर घर में खूंटी पर टांग देते हैं। जब लडके होश सम्भालने लगते हैं, उसी दिन से पूछते हैं, यह क्या रक्खा है? उसी दिन से उन्हें पाठ पढाया जाता है कि अमुक कुल के अमुक पठान ने तुम्हारे पिता को मारा था, और उससे बदला लेना तुम्हारा धर्म है। इसका प्रभाव यह होता है, कि जीवनकाल में कभी न कभी अवसर पाकर उस कुलका कोई लडका दूसरे कुल के किसी लडके को मारकर अपने प्रतिहिंसा के कुल-क्रमागत ऋण से मुक्त होता है।

अब यज्ञ-पद्धतियां शाखा-भेद से अनेक हुआ करें, परन्तु अभिचार यज्ञका सार यही है, जो सबमें समान होगा। इसे अभिचार यज्ञ की पठानी-शाखा की पद्धति समझ लीजिए। अभिचार यज्ञ विगर्हित उद्देश्य से किया जाता है, इसलिये शास्त्रकार भी इसकी निन्दा करते आए हैं। पौर्णमास उत्तम उद्देश्य से किया जाता है, परन्तु वह तभी सफल हो सकता है, जब वहां भी प्रतिहिंसा के स्थान में कोई कुल-क्रमागत उत्तम सङ्कल्प हो। इसीलिये पौर्णमास में जहां जहां 'द्विषतो बधः' ऐसा शब्द आता है, वहां अभिचार में 'शत्रु

का नाम लिया जाता है । तात्पर्य, पौर्णमास यज्ञ पहले से किसी शत्रु की कल्पना करके नहीं बैठता । पौर्णमास के सङ्कल्प से उत्पन्न बालक अपने कुल-क्रमागत सङ्कल्प के पूर्ण करने में यदि कोई विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों, तब उन से लडने का सङ्कल्प करता है, किन्तु अभिचार का कर्ता और अभिचार-जन्य बालक यज्ञशाला में प्रवेश ही किसी व्यक्ति विशेष के मारने के लिये करते हैं ।

अपने कथन की पुष्टि के लिए हम पौर्णमास पद्धति के केन्द्रभूत वाक्य को उद्धृत करते हैं :—

" ततोऽसि तन्तुरस्यनु मा तनुह्यस्मिन् यज्ञेऽस्यां साधु कृत्यायामस्मिन् नन्नेऽस्मिँल्लोक इदं मे कर्म्मेदं वीर्य्यं पुत्रोऽनुसन्तनोत्विति पुत्रस्य नाम गृह्णाति ।"

कात्यायन श्रौतसूत्र तृतीयाध्याय १७६ सूत्र ।

हे प्रभो ! तू सर्वत्र व्यापक है, इस संसार को यथास्थान बांध रखने वाला तन्तु भी तू ही है, मेरे तन्तु का भी विस्तार कर । इस यज्ञ, इस शुभ कर्म्म, इस अन्न द्वारा, इस लोक में मेरे इस सङ्कल्प, इस वीर्य को मेरा पुत्र मेरे पीछे भी विस्तार करता रहे । यह वाक्य बोलते हुए पुत्र के स्थानपर पुत्रका नाम लेना है ।

" आत्मनोऽविद्यमाने तन्तवे त्वा ज्योतिषे त्वेति वा । "

का० श्रौ० अ० ३ सू० १८८

यदि पुत्र न हो तो अपना नाम ले, अथवा " तन्तवे त्वा ज्योतिषे त्वा " ऐसा कहे, अर्थात् मैं ऐसा करूं, कि अपने पीछे भी इस कार्य्य का तन्तु न टूटने दूं । अथवा हे प्रभो ! इस शुभ कर्म का तन्तु न टूटे, इसलिए मैं तेरी शरण आता हूं ।

इस प्रकार इस लेख में हमने पौर्णमास के मूल सूत्र का निर्देश किया है । किन्तु पौर्णमास में बालक की उत्पत्ति, शिक्षा, समय-विभाग, मस्तिष्क एवं अवक्रान्ति (Development) आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है, जिनमें से दो चार का निर्देश हम अगले लेख में करेंगे । पौर्णमास के प्रत्येक

अङ्ग की व्याख्या यहां करना कठिन है, क्योंकि वह एक विशाल-काय ग्रन्थ की अपेक्षा रखती है।

अद्भुत कुमार सम्भव।

(श्रीयुत बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार)

कालिदासकवेर्वाणी दुर्व्याख्या विषमूर्छिता।
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥

मल्लिनाथ ने कालिदास के टीकाकारों पर बिगड़कर उपर्युक्त पद्य कहा है। आज मल्लिनाथ के चित्त की सी अवस्था मेरे चित्त की भी है। मैं भी आज एक कुमारसम्भव की टीका ' इस लेख द्वारा पाठकों के सन्मुख लेकर उपस्थित हुआ हूं। इस कुमार सम्भव के साथ कालिदास के कुमारसंभव की अपेक्षा कुछ कम नहीं, अपि तु सहस्रगुण अधिक अन्याय हुआ है। और अधिक दुःख की बात तो यह है कि मल्लिनाथ के प्रयत्न से कालिदास पर अत्याचार करनेवाले वह ग्रन्थ लुप्त होगए हैं जिनपर बिगडकर मल्लि-नाथ ने उक्त पद्य कहा है, परन्तु यहां तो उन अपभाष्यों का घोर प्रचार है और उनके विरुद्ध युद्ध की केवल घोषणा मात्र हुई है।

मैं जिस कुमारसम्भव को आज उपस्थित करने लगा हूं उसमें कई विचि-त्रताएं हैं। इन में एक विचित्रता तो यही है कि यह श्रव्यकाव्य नहीं किन्तु नाटक है। एक और बडी विचित्रता यह है कि इसका सम्बन्ध मीमांसा से है। इसके कर्त्ता याज्ञवल्क्य, ऐतरेय, कात्यायनादि महर्षि हैं और अलङ्कार-सूत्रकार हैं जैमिनि। काव्य और मीमांसा इनका संबन्ध! इससे बढकर धृष्टता क्या हो सकती है? इसी लिये मैंने शीर्षक रक्खा है " अद्भुत"

कुमारसम्भव ।

अच्छा , प्रस्तावना को लम्बा न करके मैं स्पष्ट भाषा का आश्रय लिये लेता हूं । आज के लेख का विषय है यज्ञ । यज्ञ क्या है ? नाटक । किस रसके ? मुख्यतया श्रृङ्गाररस के यत्र तत्र और रसों के भी । यज्ञशाला क्या है ? नाटक शाला । अब तो धृष्टता की सीमा ही नहीं रही । जरा बचे रहना । कहीं श्रोत्रिय महाराज स्रुवा मारकर खोपडी का अवदान न करदें या स्फ्य के प्रहार से आपही का आलम्भन न हो जाय । खैर आज तो घर से निकले ही हैं धृष्टता करने । जब सिरसे कफन बांधा है तो तलवार से डरना ही कैसा ।

निस्सन्देह यज्ञ नाटक है— यह स्थापना सुविज्ञ पाठकों को आश्चर्य में डाल देगी पर वास्तव में तथ्य यही है । ब्राह्मण ग्रन्थ के पाठकों के लिये यह कुच्छ आश्चर्य्य की बात नहीं । जो हो, पर जब इस के प्रमाण उपस्थित हो जावें तो फिर आश्चर्य्य क्या ? प्रमाणों के लिये दूर भी नहीं जाना । ऐतरेय अथवा शतपथ का कोई पृष्ठ खोल लीजिये, इस बात के प्रमाण ही प्रमाण दृष्टिगोचर होंगे । हां, आप आंख ही मूंदने की शपथ खाए हों तो दूसरी बात है । तथापि सुगमता के लिये यहां दो एक प्रमाण उपस्थित करता हूं । यह लीजिये, सब से पहिले शतपथ ब्राह्मण के पहले पृष्ठ कोही पढ जाइये ।

व्रतमुपैष्यन् । अन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशति तद्यदपऽ उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानीति पवित्रं वदाति वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति तस्माद्वाऽअप उपस्पृशति ।

आज व्रत धारण करना है । सबसे पहिला काम यजमान पूर्व्वाभिमुख होकर आचमन करता है । तात्पर्य्य यह है कि पुरुष असत्य भाषण से अपवित्र हो जाता है , इसीलिये पवित्रता का चिन्ह जल अन्दर लेता है , जिससे स्मरण रहे कि आज व्रत धारण के समय तो मैं अपने अन्दर

से असत्य निकाल दूं (जिससे नया जीवन बना सकूं)। जल पवित्र है यह सब जानते हैं इसीलिये इस पवित्रता के चिन्ह जल का प्रतारम्भ में आचमन किया जाता है।

देहली के लाल किले में बादशाह के न्यायासन के ऊपर एक समतोल तराजू बनी हुई है। लोग देखते हैं और कहते हैं, क्या नाजुक खयाली है! शोक है मीमांसा इतने दिन तक मोठे खयालवालों के हाथों ही पड़ी रही। जिस प्रकार कि नाटक के आरम्भ में नाट्यार्थ सूचक नान्दी होती है, इसी प्रकार यहाँ भी व्रतधारण के समय आत्मिक पवित्रता के अनुगुण आचमन ही स्थूल क्रिया की जा रही है। सुहृदय लोग इस आनुगुण्य का रसास्वाद करें। यह है शतपथ ब्राह्मण के पहिले पृष्ठ की पहिली पंक्ति। क्यों? है न आरम्भ से ही नाटक?

अच्छा और सुनिये।

अथातोऽशनानशनस्यैव। तदुहापाढः सावयसोऽनशनमेव व्रतं मेने मनोह वै देवा मनुष्यस्या जानन्ति तऽएनमेतद्व्रतमुपयन्तो विदुः प्रातर्नो यक्ष्यत इति तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्यगृहेपूपवसन्ति स उपवसथः।

तन्न्वेवानवक्लृप्तम्। यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयादथ किमु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्तस्मादु नैवाऽश्नीयात्।

आचमन की बात होली। अब व्रतधारण से पहिले खाने न खाने की कहो।

लो अब खाने न खाने ही की कहते हैं। आपाढ सावयसं आचार्य्य कहते हैं कि व्रतधारण से पहिले भोजन करना अच्छा नहीं। व्रतधारण करना सत्यादि दिव्य गुणों को मन में बुलाकर बैठाना है। जब दिव्यगुणों को पता लगता है कि कल इस यजमान को प्रातः व्रत धारण करना है तो वह निमन्त्रण पाकर उसके मनमें डेरा करने लगते हैं, सो यह कैसी अनुचित बात है। जब मनुष्यों को अपने घर में बुलाकर उन्हें बिना खिलाये भोजन करना ठीक नहीं तो देवताओं को बुलाकर उनको भोजन

दिये विना भोजन करना कैसे ठीक हो सकता है ? इसलिये जब तक अन्दर के देवता भोजन न करलें तब तक बाहर के ब्राह्मणदेवता (मुख) भी भोजन न करें। (शतपथ अजमेर मुद्रित)

इसी प्रकार, "स वै सामिधो यजति। प्राणा वै सामिधः (शत. पृ० ४०) सूर्य्योह वा अग्निहोत्रं (पृ० ८४) शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यं (पृ० १५२) पुरुषो वै यज्ञः ....शिर एवास्य हविर्धानम् (पृ० १६४) अर्धो हा एष आत्मनो यज्जाया (पृ० २७५) तिष्ठन् समिध आदधाति। अस्थीनि वै समिधस्तिष्ठन्तीव वा अस्थीनि आहुतिर्जुहोति मांसानि वा आहुतय आसत इव वै मांसान्यन्तराः समिधो भवन्ति वाह्या आहुतयोऽन्तराणि ह्यस्थीनि वाह्यानि मांसानि (पृ० ४८१) वायुरेव यजुः···अयमेवाकाशो जूः। अथाध्यात्मम् प्राण एव यजुः........अयमेवाकाशो जू अन्नमेव यजुः (पृ० ५२३) अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेवजूहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधास्तुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनम् ....एताः पय आहुतयो वाऽएता देवानाम् यद्बृचः। आज्याहुतयो वा देवानाम् यद्यजूंषि सोमाहुतयो वा एता देवानाम् यत्सामानि मेद आहुतयो वा एता देवानाम् यदथर्वाङ्गिरसः (पृ० ५००) स वा एष आत्मैव यत्सौत्रामणी .... योनिरेव वरुणः रेत इन्द्रः (पृ० ६३०) तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि वर्हिश्चर्म्माधिपवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानथोत्पहासञ्चरति (पृ० ७४४)

वह समिधाओं का हवन करता है। प्राण ही सामिधा हैं (शत. पृ०४०) सूर्य्य ही अग्निहोत्र है (पृ०८४) आतिथ्य ही यज्ञ का सिर है (पृ० १२५) पत्नी आत्मा का आधाभाग है (पृ०२७५) खडा होकर समिदाधान करता है क्योंकि समिधाएं यज्ञकी हड्डियें हैं। हड्डियां भी खडी रहती हैं, समिधा भी। आहुतियें मांस हैं। क्योंकि मांस जिस प्रकार खडा नहीं रह सकता, इसी प्रकार आहुतियां भी विना समिधाओं के सहारे नहीं खडी रह सकती। हड्डियां अन्दर रहती हैं, मांस वाहर होता है, इसी प्रकार समिधाएं अन्दर हो जाति

हैं आहुतियां उन्हें ढक लेती हैं (पृ०४४१), वायु यजु है, आकाश जू है। इसीको अध्यात्म में लो। प्राण यजु है अकाशजू है। (पृ०५२३) अब ब्रह्म-यज्ञ की महिमा कहते हैं। स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ है सो इस ब्रह्मयज्ञ की वाणी जुहू (यज्ञपात्र विशेष) है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, और मेधा स्रुवा है, सत्य अवभृथ स्नान है, स्वर्ग उदयन है। ऋग्वेद पढना इसमें दूध की आहुति करना है, यजुर्वेद पढना घृताहुति है। सामवेद पढना सोमाहुति है, अथर्व्व पढना अन्य स्निग्ध पदार्थों की आहुति हैं। (पृ०५७७)। यह आत्मा ही सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ में स्त्री-योनि वरुण देवता है, पुरुषवीर्य इन्द्रदेवता है। (पृ०६६०) स्त्री की योनि यज्ञवेदि है, उस पर जो रोम हैं वह यज्ञ के आसन हैं, बीच में पुरुषाङ्ग प्रदीप्ताग्नि है। सो वह आदमी जो विपरीति रति आदि द्वारा वीर्यनाश न करके उससे उत्तम सन्तान उत्पन्न करता है वह वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। (पृ०७४४)।

यह प्रमाण तो यों ही उपस्थित कर दिये गए हैं। सच पूछिये तो शतपथ का पृष्ठ पृष्ठ पंक्ति पंक्ति यह कह रहा है कि यज्ञ नाटक है। हां, एक बात और है। कहीं कहीं यह नाटक अनेक कथाएं एक ही समय में सुनाते हैं। अथवा यों कहिये कि वस्तुतः तो प्रत्येक यज्ञ आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिराष्ट्र न जामे कितनी घटनाओं का रूपक है पर कहीं कहीं ऋषियों ने यह भाव दिग्दर्शनार्थ स्पष्ट कर दिये हैं, जैसे पृ०५२३ पर सौत्रामणी प्रकरण में जिस में से एक छोटा सा उद्धरण ऊपर भी दिया गया हैं।

शृङ्गार रस।

अब हम अपनी दूसरी स्थापना की ओर आते हैं। यज्ञों में मुख्यभाव क्या है? मिलकर कार्य करना सिखाना अर्थात् सङ्गठन। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये याज्ञिक ऋषियों ने इस राग-माला की टेक बनाई है 'स्त्री पुरुष का जोडा।' बात है भी मार्म्मिक। ऋषिलोग वर्तमान मीमांसक पशुओं की भांति नीरस न थे। इससे बढ कर सरस और सफल सङ्गठन और हो ही नहीं सकता Home, Sweet home के नाम से भी इसी सङ्गठन के

गीत गाए गए हैं और न मालूम कितने ऋषियों ने इसका गान करके अपने काव्य को अमर बनाया है।

इस संगठन में एक और बड़ी मौलिक विशेषता है, जिसकारण संगठन मात्र का प्रतिनिधि इसे चुना गया है। संसार के अन्य सब कार्य शायद अकेले अकेले भी सिद्ध होसकते हैं; शक्तिसम्पन्न पुरुष अपना सब निर्वाह अकेला कर सकता है, पर यदि कोई एक कार्य ऐसा है जो बिना दो के हो ही नहीं सकता तो वह है यही गर्भाधान। यही नहीं, संसार को स्वर्ग और नरक बनाने का मूल आधार यदि कोई है तो यही मूलाधार। शतपथ कहता है:—

आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्यन्। आत्मनो वा एतमधिजनयति यादृशाद्वै जायते तादृगेव भवति स यद् गृहीत्वाऽग्निं चिनुयात्मनुष्यादेव मनुष्यं जनयेत मर्त्यान्मर्त्यमनपहत पाप्मनोऽनपहत पाप्मानमथ यदग्निं गृहीत्वा चिनोति-तदग्नेरेवाध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतमपहतपाप्मनोऽपहत पाप्मानम्। (पृ०३२१)

यहां अग्निचयन की क्रिया बताई गई है। उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह बाहर जो अग्निचयन किया जाता है यह तो वस्तुतः नाटक है। इसे देखकर अपने अन्दर अग्निस्थापन करो, क्योंकि जो जैसा होकर सन्तान पैदा करता है सन्तान भी वैसी ही होती है। यदि मनुष्य सन्तान पैदा करेगा तो साधारण मनुष्य ही पैदा करेगा—मर्त्य से मर्त्य, पापयुक्त से पापयुक्त ही उत्पन्न होगा। पर हां यदि अपने अन्दर अग्निधारण करके सन्तान पैदा करेगा तो सन्तान भी अग्निरूप होगी। उस समय अमर से अमर, पापमुक्त से पापमुक्त का जन्म होगा। इसलिये सन्तान उत्पन्न करने से पहिले अपने अन्दर अग्नि धारण करे।

इसीलिये पृ०७५४ में स्त्री-योनि को वेदि और पुरुषाङ्ग को समिद्धाग्नि कहा और बताया है। मनुष्य ने उत्तम सन्तान उत्पन्न करली, मानो वाजपेय यज्ञ कर लिया। यहीं तक नहीं, राष्ट्र में मनुष्य संख्या की वृद्धि के लिये भी शतपथ उसी प्रकार बल देता है, जैसे ऊपर उनके उत्कर्ष के लिये दे चुका है।

यहां राष्ट्रभृत् आहुतियों का प्रकरण है। इन में जोडे जोडे के नाम पर आहुति दी गई हैं। इसका कारण सुनिये।

मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्धि प्रजायते सराष्ट्रं भवति अराष्ट्रं वै स भवति यो न प्रजायते तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति मिथुना उऽएते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृत आज्येन द्वादशगृहीतेन। (पृ० ४८१)

विना जोडे के सन्तान नहीं। जहां सन्तान नहीं, वहां राज्य ही नहीं रह सकता। इसलिये यह स्त्री पुरुषों के जोडों की आहुतियें राष्ट्रभृत् कहलाती हैं। यह आहुतियें विवाह में पढी जाती हैं। इन मन्त्रों में सृष्टि में अनेक परिवार दिखाए गए हैं जिन में आनन्द की धूम मची हुई है। साथ ही इन में यह भी बताया गया है कि पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक बलवान् होना चाहिये। उस में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिये कि अनेक स्त्रियों से विवाह कर सके, जब इतनी सामर्थ्य हो तब एक से विवाह करे। यह नहीं कि यज्ञ के नाम से केवल स्त्री पुरुष के सङ्गठन की ही व्याख्या की गई है। नहीं, जोडे को सङ्गठन का उपलक्षण (Symbol) माना गया है, क्योंकि इस से बढकर प्रेममय सङ्गठन कोई नहीं जिसमें शासन का कार्य यथावत् चलता हो। माता पुत्र में प्रेम है, पर शासन नहीं। बहिन भाई में प्रेम है, शासन नहीं। किन्तु पति पत्नी में शासन और प्रेम दोनों का मेल है।

शासक कौन किसका है? इस में सन्देह नहीं कि जो जिस स्त्री का स्वयंवृत शासक है, वही उसका यथार्थ पति है। पर आदर्श पतिपत्नी में शासन कौन किसका करता है, यह परमात्मा ही जाने। बस यही सङ्गठन (Organisation) का आदर्श है। शासक और शासनीय के बिना कोई सङ्गठन नहीं रह सकता। पर सङ्गठन ठीक वही है जहां प्रेम के कारण शासककी शासकता का कभी कोई अनुभव न करे। यज्ञ का सङ्गठनरूप शतपथ में यों कहा गया है।

द्वंद्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पंचाग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनञ्चोलूखलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरा वै विराड्विराड् वै यज्ञस्तद्वि

राजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयत्यथ यद्द्वंद्वं द्वंद्वं वै वीर्यं यदा वै द्वौ संरभेतेऽथ तद्वीर्यं भवति द्वंद्वं वै प्रजननम् मिथुनमेवैतत्प्रजननम् क्रियते ।

पात्रों के जोड़े रखता है। छाज और अग्निहोत्रहवनि, स्फ्य और कपाल, शम्या और कृष्णाजिन, ऊखल मूसल, सिल बट्टा, यह दस हुए, क्योंकि यहां विराट छन्द है, विराट् के दस अक्षर होते हैं। यज्ञ भी विराट्रूप है, इसलिये दस पात्रों से यज्ञ का विराट्रूप किया। अब यह जो जोड़े रक्खे, सो उसका कारण यह है कि विराट् (प्रजा; इसीलिये Republic को विराट् कहा गया है) की शक्ति जोड़े से ही होती है। "यदा वै द्वौ संरभेतेऽथ तद्वीर्यं भवति" जब दो मिलकर कार्य्य करते हैं (सम्+रभेते) तब ही शक्ति पैदा होती है। इसीलिये कहा है, 'द्वंद्वं वै वीर्य्यं' जोड़े में बल है। यहां तक कि संसार का सब से मुख्य कार्य्य प्रजनन (प्रकृष्टं जननम्) उत्तम सन्तान बिना जोड़े के नहीं हो सकती। इसलिये जोड़ा ही बल और जोड़ा ही सर्ग (प्रजनन Creation.) है। ऊपर के जोड़ों को ध्यान पूर्वक देखने से पता लगेगा, कि सबके सब स्त्री पुरुष जोड़े नहीं; जैसे स्फ्य, कपाल, ऊखल, मूसल। किन्तु जहां तक सम्भव हुआ है जोड़े स्त्री पुरुष के ही बनाए गए हैं, जैसे शम्या कृष्णाजिन। यह है सङ्गठनशास्त्र।

स्त्री पुरुष के इस भाव से कोई यज्ञ खाली नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को इसी सङ्गठन का उपदेश किया गया हो, साथ ही उस प्रकार की सन्तान का भाव अवश्य है। इसीलिये कहा जाता है, बिना पत्नी यज्ञ नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है, जहां ब्राह्मण को सच्चा उत्तम ब्राह्मण बनाना आवश्यक है, वहीं, उसी दशा में उसकी सन्तान भी उपकारक हो सकती है। यही कारण है कि यज्ञ को मिथुनरूप बनाया गया है। जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद्कार ऋषि ने संसार के प्रत्येक सङ्गठन को सङ्गीत की भाषा में वर्णन किया है, उसी प्रकार शतपथकार याज्ञवल्क्यने संसार-भर की घटनाओं को मैथुन (जोड़े) की भाषा में वर्णन किया है, क्योंकि यज्ञ का उद्देश्य ही है उत्तम सन्तान की उत्पत्ति। अन्य सब उद्देश्य उत्तम शब्द के पेट में समा जाते हैं। परिणाम यह है कि यज्ञशाला में छत और खम्भे का जोड़ा, यज्ञवेदियों में गार्हपत्य और आहवनीय का जोड़ा, यज्ञपात्रों में जोड़ा, सोम और जल का जोड़ा, जिधर

भी देखो मिथुन ही मिथुन का दृश्य दिखाया है। याज्ञिक लोग चाहते हैं कि यज्ञ करने से पुरुष पत्नीमय और पत्नी पुरुषमय होजाय। ब्राह्मण उत्तम ब्राह्मण बने और ब्राह्मणीमय हो जाय, ब्राह्मणी उत्तम ब्राह्मणी बने और ब्राह्मणमय होजायं, जितने दिन यज्ञ करें मैथुन न करें,क्योंकि यज्ञ में मैथुन का निषेध है। किन्तु स्वप्न, उठते, बैठते, सोते, जागते एक दूसरे के अतिरिक्त किसीको न देखें। फिर अवभृथ स्नान के पश्चात् उनके सम्बन्ध से उत्तम सन्तान होगी। उस समय तक ऋत्विज् उनपर पहरा देंगे, यह उनके संयम का सबसे बडा कारण होगा। इसके अतिरिक्त दिन भर उपदेश भी मन्त्रों द्वारा मिलेगा। यज्ञक्रिया भी संयम में सहायक होगी, किन्तु ध्यान होगा जोडे का। यह जोडे का भाव शतपथ में इतना भरा हुआ है कि कोई पृष्ठ ही इससे खाली होगा। यद्यपि हमने अभी तक परिगणन नहीं किया , किन्तु तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि जोडे के वाक्य शतपथ में हजारों में नहीं तो सैंकडों में अवश्य आए हैं। सच तो यह है कि जिस प्रकार सङ्गीत के कारण छान्दोग्योपनिषद् नाम रक्खा गया है, उसी प्रकार यदि हम शतपथ को मिथुनोपनिषद् कहदें तो कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होता । पर एक बात साथ है, कहीं भी मिथुन का शब्द प्रजनन से अलग नहीं आया है। यह जोडा भी व्यापक है, इसको कहते हैं, 'काजल की कोठरी को स्वर्ग बनाना' कहां तो वेदान्तियों का कहना, "द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी" और कहां ह! पर सच्चे दोनों हैं। है न शृङ्गार रस ? सच पूछिये तो प्रजनन के सा- ही शृङ्गार रस है, नहीं तो वह शृङ्गार रस नहीं, वह है शृङ्गार विष।

अग्निहोत्र ।

अब इसी प्रसङ्ग में अग्निहोत्र की व्याख्या करदें तो अनुचित नहीं। यह नित्य कर्म है। यों समझ लीजिये कि यह संक्षिप्त कुमारसम्भव नाटक है। नित्यपाठ की चीज होनी ही चाहिये संक्षिप्त, पर है यह भी नाटक। आइये इस नाटक का भी तत्त्व देखें। सबसे पहिले अग्निकुण्ड को देखिये, इसकी आकृति समचतुरस्र अर्थात् वर्गाकार (Square) है। तथा नीचे से बहुत छोटी पर धीरे धीरे ऊपर की ओर खुलती गई है। इन दोनों बातों का क्या कारण

हैं। पहिले वर्गाकृति को ले लीजिये। इसका तत्त्व है समय बचाना। अग्निहोत्र-हीन भारतवासी समय का मूल्य क्या जानें। आजकल तो अग्निहोत्र के राष्ट्रीय तत्त्व को यदि किसीने समझा है तो योरोपियन लोगों ने। वे हरएक काम को वर्गाकार (Square)रूप में करना जानते हैं। कमसे कम समय जिससे लगे, वही काम वर्गाकार है, क्योंकि उसके प्रत्येक दो बिन्दुओं के बीच में छोटी से छोटी रेखा अर्थात् सरल रेखा है। अभागे भारतवासियों के काम सब ही गोलमाल (Round about) हैं, उनका हवनकुण्ड विकृत होगया है।

हवनकुण्ड के नीचे छोटे ऊपर खुले होने में भी इसी प्रकार तत्त्व भरा हुआ है। इसका तात्पर्य्य यह है, कि जो कार्य्य करो, पहिले थोडा आरम्भ करके धीरे धीरे बढाओ। पहिले बडी धूम-धाम और ढोल-ढमक्के के साथ काम आरम्भ करके फिर हाथ पर हाथ धर बैठना मूर्खता है। आरम्भ में शूर मत कहलाओ, परिणाम में बनो। इसी बात को वेद ने यों कहा है:—

आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धास उद्भिदः।

(यजु० अ०२५। मं० १४)

हमारे सब कर्म चारों ओर से अविकृत (Square)तथा उद्भिद्(Growing upwards) हों, इसी आकृति के कारण वृक्ष भी उद्भिद् कहलाते हैं॥

भारतवासियोंका हवनकुण्ड केवल विकृत ही नहीं औंधा भी पडा है। अब शतपथ तथा अन्य ग्रन्थों के वह वाक्य भी समझ में आसकते हैं, जिनमें लिखा है,जिसने अग्निहोत्र किया, उसने जगत् जीत लिया। जिसने यज्ञ में मात्रा-भर भी भूल की, वह मारा गया। यह सब वाक्य नाट्य-परक हैं,नाटक-परक नहीं। दृष्टविघात स्वयं साधारण बात है, पर अदृष्ट भाव में विघातक होने के कारण घोर हानिकारक है। यह है मीमांसा के अदृष्ट का तात्पर्य्य। हवनकुण्ड को उलटा करने से अन्धेर नहीं आता, पर वह जिस भाव का दर्शक है, उस अदृष्ट भाव को उलटा करने से क्या हानि होती है वह प्रत्यक्ष है। अग्न्याधान मन्त्र को लीजिये उसमें भी यही भाव है।

भूः भुवः स्वः प्रभुः द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव (च) वरिम्णा तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे अग्निम् अन्नादम् अन्नाद्याय आदधे।

वह प्रभु भूः भुवः स्वः है, उसे साक्षी करके मैं आकाश की सुन्दरता पृथिवी पर उतारने के लिये हे विद्वानों की यज्ञ-भूमि पृथिवी तेरी छाती पर अन्नाद् अग्नि की स्थापना करता हूं, जिससे सबको अन्न प्राप्त, हो ।

कैसे गहरे शब्द हैं, अन्न के लिये अग्नि की स्थापना करता हूं, याद रक्खो अग्नि विना अन्न नहीं।

पर यह अग्नि अकेला नहीं बढा सकता 'द्वंद्वं वै वीर्य्यम्' इसीलिये अगले मन्त्र में कहते हैं।

उद्बुध्यस्व अग्ने प्रतिजागृहि। त्वम् इष्टापूर्त्ते संसृजेथाम् अयञ्च अस्मिन् सधस्थे अधि उत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत।

हे अग्ने उद्बुद्ध हो, जाग उठ, तू और यह मिलकर इष्टापूर्त्त (परोपकार के कार्य) करें, इसीलिये इस चबूतरे पर यजमान और सब विद्वान् उपस्थित हों, त्वम् अयञ्च तू और यह।

तू और यह कौन? यह स्थान जान बूझकर खाली छोडे गए हैं। यहां स्त्री पुरुष, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य सब ही शासक और शासनीय के जोडे रक्खे जासकते हैं। पर मुख्यरूपेण यहां स्त्री पुरुष ही समझे जाते हैं, क्योंकि आगे चलकर सूर्य्यो ज्योतिः और अग्निर्ज्योतिः आदि अग्निहोत्र की मुख्य आहुतियों में शतपथ कहता हैः—

तद्वस्त्येव प्रजननस्य रूपम्। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति। तदुभयतो ज्योतीरेतो देवतया परिगृह्णाति उभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयतः एवैतत्परिगृह्य प्रणयति।

यह अग्निर्ज्योतिः की आहुति सन्तानोत्पत्ति का रूप है, इसीलिये ज्योति के दोनों ओर वीर्य के देवता अग्नि को बैठाया है, क्योंकि स्त्री-वीर्य्य को जब पुरुष-वीर्य्य दोनों ओर से घेर लेता है, तब ही सन्तान होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि अग्निहोत्र का आरम्भ तू और यह के अव्यक्त शब्दों से किया गया है क्योंकि यह आरम्भिक अग्न्याधानका भाग अन्य यज्ञों में भी उपयोगी है तथापि मुख्य आहुतियों में फिर स्त्री पुरुष का जोडा आगया है।

विश्वेदेवा यजमानश्च।

यह शब्द भी ध्यान देने योग्य है यद्यपि तू और यह दोनों का मेल आवश्यक है किन्तु तो भी जब तक दोनों में से एक मुख्य कार्य कर्ता न हो तब तक सङ्गठन नहीं हो सकता तब तक वह समज है समाज नहीं। रेवड है जथ्था नहीं। नाऊकी बरात है सुसज्जित सेना नहीं। इसीलिये यज्ञ भूमि का केन्द्र है यजमान और सब उसके उपकारक हैं इसलिये वह हैं विश्वेदेवाः।

अच्छा यह तो हुआ पर सङ्गठन सफल तब ही होगा जब उसमें शासक-शासनीय भाव सदा उछल कूदन मचाता रहे जब उसका प्रत्येक अङ्ग दूसरे के लिये अपने आप को बलिदान करने में एक दूसरे से आगे बढना चाहे इसीलिये आगे लिखते हैं।

अयम् ते इध्म आत्मा जातवेदः तेन इध्यस्व वर्धस्व च इद्ध वर्धय च अस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय।

हे अग्ने! यह मेरा आत्मा तुम्हारा इन्धन है इससे चमको और बढो और हमें भी बढाओ हमारी प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न सब बढे।

जिस सङ्गठन में प्रत्येक समिधा अपने आपको आहुति करने दौडे वहां वृद्धि ही वृद्धि है राख न करके वृद्धि देती है यही तो इस अग्नि की विलक्षणता है पर देखना अभिमान न बढे सदा याद रखना।

इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम।

यह सब उस अन्तर्यामी परमाग्नि प्रभुके अर्पण है यह मेरा नहीं है यही सङ्गठन का प्राण है स्वार्थ आलस्य अभिमान किसी कारण से भी हो "मैं" "मेरा" आरम्भ हुई और सङ्गठन भागा।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। इदन्न मम।

देख यजमान कहीं अग्निमात्रा अत्यधिक न बढजाय चाहे सन्तानाग्नि का आधान करना हो अथवा किसी अन्य अग्नि का पहिले निर्भय होकर आत्मा से पूछ।

अदितेऽनुमन्यस्व ।

फिर बडे बूढों से पूछ ।

अनुमतेऽनुमन्यस्व ।

फिर शास्त्र से पूछ ।

सरस्वत्यनुमन्यस्व ।

फिर अन्त में जगदीश्वर की शरण में जा और कह ।

देव सवितः प्रसुवयज्ञं प्रसुव यज्ञपतिम्भगाय दिव्योगन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिः वाचं नः स्वदतु ।

इस अग्नि के सिर पर इतना जल भी रख फिर अग्नि में अग्निहोत्र की मुख्याहुति देना ।

हे गृहस्थ परमात्मा से प्रार्थना कर ।

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुपसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्य्योवेतु ।

परमेश्वर के साथ सम्बन्ध जोडे हुए प्रातःकाल तेरे घर में सूर्य्य और रङ्गीली उषा का जोडा आए जिससे तुम यह उपदेश लो कि पुरुष दिन भर सूर्य्य की तरह गर्म्मी से निःस्वार्थ काम करे और पत्नी उषाकी तरह खिली रहे काम काज करती झींखे नहीं ।

सायङ्काल फिर प्रार्थना कर ।

परमेश्वर के साथ जुडा हुआ इन्द्रवती (सजीधजी) रात्रि के साथ अग्नि का जोडा मेरे घर में आवे । रात्रि के समय पुरुष अग्नि के समान, शीत तथा अन्धकार का निवारक बने और पत्नी रात्रि के समान विश्राम देनेवाली हो ।

यह है गृहस्थों का दैनिक कर्म्म ।

अच्छा यज्ञ वा अग्नि होत्र है क्या ?

सूर्य अग्नि होत्र है (पृ० ८४)
पुरुष यज्ञ है (पृ० १६४)
योनि वेदि है (पृ० ७४४)
स्वाध्याय यज्ञ है (पृ० ५७७)
परमेश्वर यज्ञ है तस्माद्यज्ञात् (यजु ० ३१ । ७ ।)

अब इस क्रम को पूरा कीजिये ।

सूर्य का यज्ञ होरहा है, वसन्त घृत ग्रीष्म इन्धन शरत् हवि है (यजु३१। १४) इससे अन्न उत्पन्न हुआ उसे पुरुषाग्नि में हवन कीजिये उससे वीर्य उत्पन्न हुआ उसे स्त्री वेदि में हवन कीजिये उससे बालक हुआ उसे स्वाध्याय यज्ञ के अर्पण कीजिये उससे ब्राह्मण बना वह परमेश्वरार्पण हुआ । उस परमेश्वर की इच्छा से फिर सूर्य यज्ञ हुआ और फिर वही चक्र इसी प्रकार बीच में और भी बहुत से यज्ञ कल्पना किये जासकते हैं इसीलिये वेद ने कहा—

यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवाः और इसीलिये गीता में कहा है ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः,
यज्ञाद्भवतिपर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्व्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं० । गीता ३। १४ । १५। १६ ।

इन में से किसी विषयक बात जाननी हो तो मौलिक नियम सब के विषय में एक है।

जठराग्नि को भोजन के हीन मिथ्या तियोग से
वीर्य्याग्नि को सन्तति के " " "
सन्तति को स्वाध्याय के " " "

बचाते रहो जिससे अग्नि बुझने न पाए इसी प्रकार यन्त्राग्नि में भौतिक अग्नि राष्ट्र में उत्साहाग्नि आदि अनेक अग्नियों की कल्पना हो सकती है सब का तत्त्व एक है इसीलिये यह अग्निविद्या अनन्त है । यह छोटासा हवनकुण्ड अनन्त विद्या का भण्डार है परन्तु यह न भूलना चाहिये कि याज्ञवल्क्य कात्यायनादि सब आचार्यों ने सब से अधिक बल उत्तम सन्तान उत्पन्न करने पर दिया है । रे प्रकृति पूजक ! संसार क्या तू कभी अपनी सन्तति का मूल्य समझेगा तू कब चेतेगा ?

पशुहिंसा ।

अब हम यज्ञों में पशुहिंसा विषयक एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन करते

हैं जिससे जहां जहां यज्ञों में पशुहिंसा का विधान है प्रायः उन सब ही स्थलों की व्याख्या हो जायगी ? हम आज उदाहरण के लिये अग्निष्टोम यज्ञ को लेते हैं इसका पशुछाग अर्थात् बकरी का बच्चा है । वैदिक साहित्य में अज नाम जीव का है इसके लिये यहां एकही प्रमाण पर्य्याप्त है ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृमाजनां नमामः ।
अजा य ता जुषमाणा भजन्ते जहात्येनां भुक्तभोगां नुमस्ताम् ।
सांख्यतत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिः ।

स्पष्ट है छाग छोटे बच्चे का नाम है । छाग से उपमा इसीलिये दी गई है कि साधारण बच्चा बकरी का बच्चाही कहा जासकता है । व्याघ्र गौ आदि के बच्चे साधारण नहीं उन में तीव्रता सौम्यता आदि गुण हैं इसलिये साधारण बच्चे को लेने सेही उपमा दी जा सकती है ।

अब अग्निष्टोम यज्ञ क्या है ? सोमपान द्वारा ऐसी सन्तान उत्पन्न करना जिसमें अग्नि और सोम दोनों गुण इकट्ठे हों ।

जिन के लिये कहा जासके ।

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥

अथवा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति ॥

अथवा—

खलदलदलनायासहस्रभासाज्वलन्तम् ।
सदयमथ दयान्ता नार्त्तलोके झरन्तम् ॥

अग्नि और सोम, क्रोध और शान्ति का यथोचित मेल किन्हीं विरले मन और विरले शरीरों में होता है शरीर में भी इन दोनों गुणों की समीचीनता (Equilibrium) की आवश्यकता है इसीलिये सुश्रुत में शरीर को अग्निष्टोम कहा है । पूर्णस्वास्थ्य का चिन्ह है अग्निष्टोम का साम्य । ऐसा विलक्षण पुत्र उत्पन्न करने के लिये वीर्य्य शुद्धि के लिये सोमपान की आवश्यकता है ।

इसी यज्ञ में पशुबलि भी दी जाती है अब देखना चाहिये कि इसका क्या तात्पर्य्य है। यह ग्रन्थि एक शब्द के सुलझाने से सुलझ जायगी वह शब्द संज्ञपन है। यहां ही नहीं जहां कहीं भी पशुयज्ञ है वहां आलम्भन संज्ञपन और विशसन शब्दोंका प्रयोग है आलम्भन पर बहुत विचार हो चुका है हम स्वयं भी अपने एक लेख में इसका विचार कर चुके हैं आज हमारी इच्छा संज्ञपन परही विचार करने की है। यह शब्द णिच् प्रत्ययान्त सं पूर्वक ज्ञा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर बना है।

अब सब से पहिले सं पूर्वक ज्ञा धातु का क्या अर्थ है यह देखना चाहिये। हम बल पूर्वक कह सकते हैं कि वेद में यह धातु सङ्गम के अर्थ में आई है अन्य किसी अर्थ में आई हो तो कोई पाठक हमारे ध्यान में लाने की कृपा करें।

हम यहां दो प्रमाण उपस्थित करते हैं।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नियच्छतम्॥

अथर्व ७ काण्ड ५ अनु० । सू० ०५२ ।

संजानीध्वं संपृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

अथर्व काण्ड ६ । अनु० ७ । सू० ६४ ।

हे अश्विनो हमारा अपने पराये सबसे मेल रहे। हमारे अन्दर परस्पर भी मेल रहे ऐसी कृपा हम पर करो करो।

हे मनुष्यो तुम भी परस्पर ऐसे मिले रहो, ऐसे चिपटे रहो जैसे तुम्हारे बड़े उस भजनीय परमेश्वर को मिलकर उपासना करते हैं।

अब यहां कोई भी नहीं कह सकता कि इन मन्त्रों में सञ्जानीध्वं सङ्गच्छध्वं के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। अब प्रश्न हो सकता है कि णिच् प्रत्यय से अर्थ बदल गया हो सो प्रथम तो णिच् प्रत्यय से केवल इतना ही अर्थ बदल सकता है कि संगत होना के स्थान में संगत करना अर्थ होजाय क्योंकि णिच् हेतुमद्भाव (Cousative) में होता है परन्तु प्रतिवादियों के

तो वज्रप्रहार के बिना सन्तोष नहीं हो सकता इस लिये निम्न प्रमाणान्त प्रयोग लीजिये।

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता। सं वो यं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत। संज्ञपनं वो मनसा थो संज्ञपनं हृदः अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः। (६ काण्ड ८ सू० ७४)

तुम्हारे शरीर, तुम्हारे मन, तुम्हारे व्रत मिले रहें। यह कल्याणकारी ब्रह्मणस्पति तुम्हें हर प्रकार इकट्ठा कर चुका है।

तुम्हारे मन और तुम्हारे हृदयों का सङ्गमन हो परमेश्वर के नाम पर किये हुए पुरुषार्थ से तुम्हें इकट्ठा करता हूं।

क्यों श्रोत्रिय जी अभी नशा उतरा कि नहीं! अच्छा अब देखिये यह संज्ञपन शब्द क्या रङ्ग लाता है. जरा पशु के बलिदान की क्रिया सुनिये।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्रातानु सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि।

इस मन्त्र को पढ़ कर बलि पशु को यूप अर्थात् खम्भे से बांधा जाता है। अब इस मन्त्र का महीधर का ही किया हुआ अर्थ सुनिये। हे पशु नाना प्रकार के जल और ओषधियों से तुझे पवित्र करता हूं इस प्रकार के तुझे माता, पिता, भ्राता, सहोदर, सखा और हमजोली सब के सब अनुमति दें।

अब विद्वान् लोग सोचें कि यह शब्द पशु के लिये कहे जा सकते हैं। अब पशु के मारे जाने पर क्या मन्त्र पढा जाता है वह सुनिये।

वाचं ते शुन्धामि प्राणन्ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रन्ते शुन्धामि नाभिन्ते शुन्धामि मेढ्न्ते शुन्धामि पायुन्ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।

पत्नी कहती है—हे पशु! मैं तेरे प्राण, चक्षु श्रोत्र, नाभि, लिंग, गुदा और पैरों को शुद्ध करती हूं। यह मन्त्र पढकर पत्नी मृत पशु के अङ्गों को जल से स्पर्श करती है। मन्त्र में चरित्र का अर्थ पैर महीधर को पदक-प्रदान का अधिकारी बना रहा है। बलिहारी है इस बुद्धि की!

अच्छा, अब और दिल्लगी सुनिये।

अध्वर्यु और यजमान मरे पशु से कहते हैं :—

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायताम् चक्षुस्त आप्यायताम् यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः ओषधे त्रायस्व नैनं हिंसीः।

तेरा मन शान्त हो, तेरी वाणी शान्त हो, तेरा प्राण शान्तिप्रद हो, तेरी चक्षु शान्त हों, तेरे कान शान्त हों। जो कुछ क्रूर तेरे साथ हुआ है, या उप-स्थित है, सब शान्त हो। वह सब पूर्ण हो जावे, तेरे दिन अच्छे गुजरें। फिर मरे पशु की नाभि पर तिनका रखकर कहता है :— ओषधे! इसकी रक्षा कर, इसे दुःख न पहुंचाना।"

यह सब कुछ मरे पशु से कहा जा रहा है। नर-पशुओ! तुम्हारी बुद्धि कहां भाग गई?

अब इन मन्त्रों का तात्पर्य सुनिये—

हम पहले ही कह चुके हैं,कि अग्निषोम यज्ञ का तात्पर्य्य है ऐसा बालक उत्पन्न करना, जिसमें यह दोनों दुर्लभ गुण एकत्र हो जावें। अब भावी स-न्तान को प्रत्यक्षवत् लक्ष्य करके पत्नी यह कहती है। यह वाक्यालङ्कार कुछ नया कल्पित नहीं है,हम मुद्राराक्षस नाटक में पढते हैं :—

चाणक्यः—(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) दुरात्मन् राक्षस! तिष्ठ एषोऽहमचिराद्भवन्तम्—

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्तिम्,
उत्सेकिना मदबलेन विगाहमानम्।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायाम्,
आरण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि॥

लोग अपने आपसे बात करते हुए अपने शत्रु के विषय में न मालूम कितनी बार कह उठते हैं. "अच्छा बच्चू, तू मिल तो सही, देख, तेरे साथ कैसी करता हूं"। अब यहां प्रबल हृदय-वेग के कारण 'करूंगा' इस भविष्यत्

के अर्थ में वर्त्तमान काल का प्रयोग है। पत्नी उस आने वाले आत्मा को सम्बोधन करके कहती है, "हे बच्चे ! मैं देवसविता की साक्षी करके उसके प्रबल हाथों को और महती पोषक शक्ति को प्रत्यक्ष जानकर यह प्रण करती हूं, कि तू अग्निषोम कार्य्य के अर्पण है, अर्थात संसार के दुष्ट गुणों के नाश और जगत् में शान्ति विस्तार के लिये मैं तुझे अपने गर्भ में बुलाती हूं। मैं प्रभु को साक्षी करके प्रण करती हूं, कि जब तू बड़ा होगा तो हे मेरे लल्ले ! (प्यार से बच्चे को लेला कहती है) मैं मोहवश तुझे खुला न फिरने दूंगी, तू अवश्य गुरुजी के खूंटे से बांधा जायगा। मैं तो उस दिन को मनाती हूं, जब तू बड़ा हो और अग्निषोम गुण प्राप्त करने गुरुजी के घर जाए। उस समय मैं, तेरे पिता, भ्राता (चाचा आदि के लड़के), सहोदर, मित्र, हमजोली सब प्रसन्न होकर मङ्गल मनाते हुए गुरुजी के घर भेजें। इसीलिये मैं उत्तम जल और ओषधि सेवन करूंगी। मैं फिर कहती हूं कि मैंने तुझे अग्निषोम यज्ञ के अर्पण किया। मैं तेरी वाणी, तेरे प्राण, तेरे आंख, कान, नाभि, लिङ्ग, गुदा सब इन्द्रियों को पवित्र करती हूं, अर्थात् ऐसा यत्न करूंगी, कि तेरे किसी इन्द्रियों में विकार न हो और ऐसे ही गुरु के पास भेजूंगी, जो तुझे इन इन्द्रियों के सदुपयोग की शिक्षा दे और तेरे चरित्रों को पवित्र करे। मेरे बच्चे ! तू गुरुकुल में जाए, तेरा मन आप्यायित हो। तेरी वाणी आप्यायित हो, तेरी चक्षु आप्यायित हो, तेरे कान आप्यायित हों। गुरुकुल में तेरे हित के लिये गुरु लोग कोई कठोरता बर्त्तें, अथवा और जो कुछ तुझे विद्याभ्यास आदि के कारण कृशतादि प्राप्त हो, वह भी पूरी होजाय। तू अक्षुण्ण हो, तू शुद्ध हो, तेरे दिन अच्छे बीतें।" फिर जो सोम आदि ओषधि विद्वान् दें, उसे लेकर वह आशीर्वाक्य कहती है, "हे ओषधि ! तू आने वाले बालक के लिये रक्षा-कारिणी हो, उसे कोई कष्ट न होने दे।"

अब हम अपने किये अर्थ की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हैं।

(1) हमारा किया अर्थ मनुष्यों के सम्बन्ध में होने से ठीक है। पशु के

माता, पिता, सखा, सहोदरादि का अनुमति देना और वह भी वध के लिये उपहासमात्र है।

(२) मरे हुए की वाणी प्राणादि की शुद्धि कहना और भी अधिक उपहास है। इसी प्रकार उसे मारकर फिर आप्यायताम् की माला जपना, जले पर नमक छिडकना है।

(३) वाक्, प्राण आदि शब्दों का जिह्वा, नासिकादि अर्थ लेना शब्दों के साथ अन्याचार है। जब हमारा किया हुआ अर्थ मुख्यार्थ का अनुग्राहक है, तो मुख्यार्थ का निग्राहक अर्थ क्यों लें?

(४) फिर यहां एक और बात देखने योग्य है! शतपथ के जिस शब्द का अर्थ यहां पशु-वध लिया गया है, देखना चाहिये वह क्या शब्द है? वह शब्द वही "संज्ञपन" है जिसकी चर्चा हमने आरम्भ में उठाई थी और जिसका अर्थ हम वेद के प्रमाणों से ही "सङ्गमन" सिद्ध कर चुके हैं। अब देखना चाहिये, शतपथ स्वयं इस विषय में क्या कहता है?

तन्नाह जहि मारयेति मानुषं हि तत् संज्ञपय अन्वगन्निति तद्धि देवत्रा स यदाह अन्वगन्नित्येतर्हि ह्येष देवान् अनुगच्छति तस्मादाहान्वगन्निति।

पशु के लिये यज्ञ में जहि, मारय यह शब्द नहीं कहते क्योंकि यह तो साधारण मनुष्यों की भाषा है। देवताओं की भाषा में 'संज्ञपय, अन्वगन्' यह शब्द प्रयुक्त होते हैं क्योंकि यही देवोचित व्यवहार है। देवता जिस पशु को मारना चाहते हैं वह उसके पशुत्व को मारते हैं नकि उस पशु को। वह 'मारय' नहीं कहते किन्तु 'संज्ञपय' (संगमय) कहते हैं, अर्थात् इसे हमारी संगति में लाओ। वह 'अन्वगन्' कहते हैं अर्थात् इसे हमारा अनुगामी बनाओ। देखिये शतपथ स्वयं ही कह रहा है।

"सो यह जो कहता है 'अन्वगन्'—वह इसलिये कि फिर वह देवताओं का अनुगामी हो जाता है। इसीलिये 'अन्वगन्' यह शब्द बोला जाता है। कितना स्पष्टभाव है? मनुष्य लोग मारने का बीभत्स कार्य्य करते हैं, किन्तु देव लोग उसके पशुत्व को मार कर उसे अपना अनुगामी बना लेते हैं, यही

उनका मारना है। तद्धि देवत्रा।

यह है यज्ञों में पशुहिंसा। ऐसी पशुहिंसा तो रोज हुआ करे। अग्निषोम में भी उपदेश है कि यह बच्चा चाहे कैसे अच्छे संस्कार लेकर आए,जबतक किसी विद्वान् के खूंटे से न बांधोगे तब तक निरा छान ही रहेगा। इसीलिये इसे किसी विद्वान के घर भेजना। इसीलिये पत्नी के मुख से "वाचं ते शुन्धामि" आदि प्रतिज्ञाएं कराई जाती हैं। इस प्रकार परम-कारुणिक कल्पसूत्रकारों ने जो मधुर कल्पनाएं की थीं, उनका मर्म न जानकर अथवा स्वार्थवश होकर पामरों ने कैसा हिंसा-जाल विस्तीर्ण किया है ?। हे भगवन्! इससे रक्षा करो! इसीलिये तो वेद भगवान् ने पहले ही घण्टा-घोष किया था, "मुग्धा देवा उत शुनाऽयजन्त उत गोरङ्गैः पुरुधा यजन्त।"

यहां हमने अग्निषोम में इन मंत्रों का क्या अर्थ है? यह दिखा दिया। इसी प्रकार अन्यत्र गुरुशिष्य व्यवहार, शल्य चिकित्सादि में भी इनका विनियोग होसकता है। गुरुशिष्य व्यवहार में विनियोग करते समय तो वर्त्तमान का भविष्यत् अर्थ में भी प्रयोग मानने की आवश्यकता न रहेगी। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां यह वाक्य विनियुक्त हो सकते हों करने चाहिये; क्योंकि मन्त्रार्थ विनियोग का नियामक है, विनियोग मन्त्रार्थ का नहीं। परमेश्वरने यह मंत्र खास अग्निषोम यज्ञ के लिये घडकर नहीं भेजा। कल्प सूत्रकारों ने अपनी कल्पना से उनका यथोचित स्थान में विनियोग किया, इसी लिये वह कल्पसूत्रकार कहलाए। हां, जिन्होंने मन्त्रार्थ से विपरीत स्थानों में मन्त्रों को तोड मरोडकर वाणी की जीभ और प्राण की नाक बनाकर विनियोग किया, उनकी बुद्धि पर जितना रोएं थोडा है।

नाटक की यथार्थता।

अब हमें एक प्रश्न का उत्तर देना और शेष रह गया। यह पूछा जा सकता है कि नाटक करने वाले नाटक में यथा सम्भव यथार्थता लाने का यत्न करते हैं। यदि कोई अपने नाटक में सचमुच का राजवेष पहना कर सचमुच का चन्द्रोदय दिखला सके तो क्यों न दिखाए? इसी प्रकार यदि कोई

इस काल्पनिक पशुत्व की हिंसा को आचमनादि की शुद्धि द्वारा आभ्यन्तरिक शुद्धि की तरह स्थूल कर्म्म द्वारा यथार्थ दिखाना चाहे तो क्यों न दिखाए। उसके प्रति हमारा यह उत्तर है कि यथासम्भव का अर्थ तुम क्या लेते हो ? देखो नाटक में जहां कोई खून दिखलाया जाता है वहां मनुष्य झूठमूठ मारा हुआ सा बनकर पड़ जाता है । यदि यहां सचमुच खूनही कर दिया करो तो नाटक में कैसी यथार्थता आजाय । लोग यहां कहेंगे कि राजाज्ञा द्वारा खून में प्राणदण्ड होने से यथार्थ खून नहीं दिखलाया जासकता । तो अब हमारा यही कहना है कि "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे. . पौरुषेयेण कविषा समङ्क्ते, मुग्धा देवाः" इत्यादि श्रुतिवाक्य तथा "मा हिंस्यात् सर्व्वा भूतानि" इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों के कारण आप के नाटक के इस भाग में भी यह रस विघातिनी बीभत्स कृरता यथार्थ नहीं आ सकती ।

प्रतीत होता है कि यथार्थता के लिये पहिले लोगों ने व्रीहिमय पशु की आहुतियां दी होंगी । इसी लिए महाभारत में आया है " पुरा व्रीहिमयः पशुः" । भागवत में भी पिष्ट पशु का वर्णन है । पहिले यह मानस व्यापार था, फिर पिष्ट पशु बना, फिर जब संसार में अज्ञान. लाभ और मदान्धता बढ़ी तो पूरी यथार्थता हो गई। वस्तुतः पशुत्व की हिंसा पशुहिंसा है, पशुओं के शरीर की हिंसा पशुहिंसा नहीं । इसी लिये महाभारत ने कहा है "धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं चक्रं नैतद्वेदेषु विद्यते' ॥ महाभारत शान्ति २६५ अ० ।

और इसीलिये अथर्व्ववेद ७ म काण्ड में प्रार्थना है:—

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ।

अर्थात् हे प्रभो ! ऐसा गुरु भेज जो हमें मन से यज्ञ करना सिखाए।

इस ग्रन्थियों को समझ लेने से श्येनयागादि अनेक ग्रन्थियां खुल गई। जो शत्रु को मारना चाहे वह निरन्तर ध्यान द्वारा ऐसी सन्तानं पैदा करे जो शत्रु को मार गिराए । इसके लिये अग्नि की समिधाओं का चयन भी श्येन अर्थात् बाज जैसा हो, वह ध्यान भी बाज का करे किन्तु यह निन्दित यज्ञ है । श्येनयाग का यही अर्थ शबर स्वामी ने अपने ममांसा भाष्य में

किया है।

इसी प्रकार वरुण का पशु मेढा बताया गया है। इसका अर्थ है कि पोलिस के काम के लिये मेढे के समान गुण्डे पशुओं का अपना अनुगामी बना कर पोलिस का काम ले, क्योंकि गुण्डे ही सुधर कर गुण्डों को पकड सकते हैं। यमराज का पशु भैंसा है, अर्थात् दण्डाधीश के पद से राजा भैंसे के समान तमोगुणी भयङ्कर आदमियों से जल्लाद आदि का काम ले। और जिस यज्ञ में उन पशुओं का वर्णन है वहां तदुपयोगी सन्तान का वर्णन है। यह है हमारा कुमार सम्भव। इसी प्रकार हम समय समय पर वाजपेय, अश्वमेध आदि पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे और यदि प्रभु ने सामर्थ्य दी तो किसी दिन यज्ञों पर से इस घोर कलंक को दूर करने में सफल होंगे। धन्यवाद है उस प्रभु का जिसने ऋषि दयानन्द सा गुरु भेजकर हमें मन से यज्ञ करना सिखाया। ऋषिवर! यही आप के इस तुच्छ शिष्य की आनन्दाश्रु-स्नात भेंट है। इससे अविद्यान्धकार दूर हो।
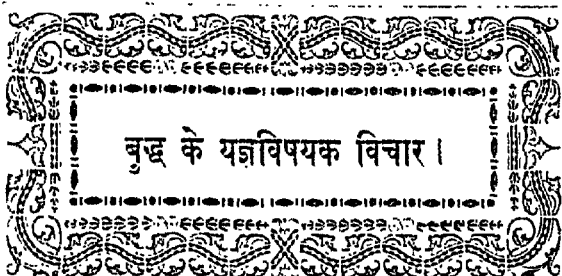
निर्मांस यज्ञविषयक गौतम बुद्धके विचार।

(ले०—श्री०पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार, पालिरत्न, वेदोपाध्याय, गुरुकुल)

सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिक सुत्त से समांस यज्ञ कैसे चला और उस का क्या परिणाम हुआ—इत्यादि विषयों पर बड़ा प्रकाश डलता है, अतः वह प्रकरण यहाँ उद्धृत किया जाता है।

जिस समय गौतम बुद्ध श्रावस्ती नगरी के जेतवन विहार में रहते थे उस समय उनके पास कोसलदेशीय वृद्ध ब्राह्मण आये और वार्तालाप करते हुए उन्होंने पूछा कि क्या वर्तमान समय में प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म को पालने वाला कोई ब्राह्मण है? बुद्ध ने उत्तर दिया कि इस समय प्राचीन ब्राह्मण धर्मावलम्बी कोई नहीं दीखता। तब प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म पूछने पर गौतमने कहा—

१. प्राचीन ब्राह्मण ऋषि, संयतात्मा और तपस्वी होते थे। वे पांचों ज्ञानेन्द्रियों के सुखों को छोड कर आत्मोन्नति किया करते थे।

२. ब्राह्मणों के पास पशु, सुवर्ण और धान्य नहीं होते थे। स्वाध्याय ही उनका धनधान्य था और वेदरूपी कोष की रक्षा करते थे।

३. वे ब्राह्मण, श्रद्धा से बनाया हुआ जो भोजन उन के द्वार पर गृहस्थी दे जाते थे, उसी पर गुजारा करते थे।

४. नानाप्रकार के रंगों से रंजित वस्त्रों बिछौनों और मकानों से समृद्ध

मनुष्य प्रान्तों और सारे राष्ट्र मे आकर उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे।

५. ब्राह्मण अवध्य. अजेय और धर्म से रक्षित होते थे। उन को सर्वत्र गृहद्वारों पर खड़े हुओं को कोई नहीं रोकता था।

६. वे ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य रखते थे. और विद्या तथा आचार के अन्वेषण में लगे रहते थे।

७. वे ब्राह्मण अन्य स्त्री से सम्बन्ध नहीं करते थे। न भार्या को खरीदते थे। विवाह करके परस्पर प्रेमी की भाँति मिलकर रहना पसन्द करते थे।

८. इस समय के अतिरिक्त. जो रजोदर्शन–समाप्ति के पश्चात होता है, ब्राह्मण अन्य समय में मैथुन–धर्म नहीं करते थे।

९. वे ब्रह्मचर्य. शील. सरलता. मृदुता. तप. सहानुभूति. दयाभाव और सहनशीलता की प्रशंसा करते थे।

१०. जो इनका श्रेष्ठ. दृढ़ और पराक्रमी ब्रह्मा था. उसने स्वप्न में भी मैथुन धर्म नहीं किया।

११. उस ब्रह्माके जीवन के अनुकूल चलते हुए इस संसार में बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मचर्य. शील और क्षमा (सहनशीलता) की प्रशंसा किया करते थे। फिर निर्माम यज्ञ के बारे में लिखते हैं–

१२. तण्डुलं सयनं वत्थं
सप्पि तेलञ्च याचिय।
धम्मेन समुदानेत्वा,
ततोयञ्ञमकप्पयुं।
उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं
नास्सु गावो हनिंसु ते॥

वे ब्राह्मण चावल, बिछौना, वस्त्र, घृत और तेल मांगकर तथा धर्म पूर्वक संग्रह करके उनसे यज्ञ करते थे। उपस्थित यज्ञ में गौओं को नहीं

मारते थे।

१३. यथा माता पिता भाता
अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता
यासु जायन्ति ओसधा॥

माता, पिता भाई और अन्य ज्ञातियों की तरह गौएं हमारी परम मित्र हैं, जिन से ओषधिएं पैदा होती हैं।

१४. अन्नदा, बलदा चेता
वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा
नास्सु गावो हनिंसु ते॥

ये गौएं अन्नदा, बलदा, सौन्दर्यप्रदा और सुखदा हैं इस मतलब (बात) को जानकर वे ब्राह्मण गौओं को नहीं मारते थे।

१५. सुखुमाला महाकाया
वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि
किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु
सुखमेधित्थ यम्पजा॥

सुकुमार (युवा) विशालकाय, सुन्दर, यशस्वी और सब प्रकार के छोटे बड़े कृत्यों में उत्सुक ब्राह्मण जब तक दुनिया में रहे तब तक यह प्रजा सुख की वृद्धि करती रही।

१६. तेसं आसी विपल्लासो
दिस्वान अणुतो अणुं
राजिनो च वियाकारं
नारियो समलङ्कता॥

१७. रथे चाजञ्ञसंयुत्ते
सुकते चित्तसिब्बने ।
निवेसने निवेसे च
विभत्ते भागसोमिते ॥

१८. गोमण्डलपरिब्बूळहं
नारिवरगणायुतं ।
उळारं मानुसं भोगं
अभिज्झायिंसु ब्राह्मणा ॥

उन ब्राह्मणों का विपर्यास होगया। क्रमशः धीरे धीरे राजकीय ठाठ, समलंकृत स्त्रियाँ, उत्कृष्ट जाति के घोड़ों से संयुक्त सुनिर्मित रथों, अनेक रंगों से युक्त चित्रों, अनेक छोटे बड़े कमरों में विभक्त महलों और गृहों और अनेक गौओं तथा सुन्दरी नारियों से संयुक्त महान् मानुषीय भोग को देख कर ब्राह्मण लोभी हो गये।

१९. ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा
ओक्काकं तदुपागमुं ।
पहूतधनधञ्ञोसि
यजस्सु बहु ते धनं

तब वे उस समय मंत्रों का संग्रह करके (एक विधि तैयार करके) इक्ष्वाकु के पास गये और कहा तेरे पास बड़ा धन धान्य है, यज्ञ कर तेरा धन बहुत है।

२०. ततो च राजा सञ्ञत्तो
ब्राह्मणेहि रथेसभो ।
अस्समेधं पुरिसमेधं
सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गळं ।
एते यागे यजित्वान
ब्राह्मणानं अदा धनन् ॥

तब ब्राह्मणों से आज्ञप्त रथपति राजा ने अश्वमेध, पुरुषमेध, शम्याप्रास (शम्याक्षेप जिसे सत्रयाग भी कहते हैं) वाजपेय और निरर्गल (सर्वमेध)- इन यागों को करके ब्राह्मणों को धन दिया।

२१. गावो सयनञ्च वत्थञ्च
नारियो समलंकता।
रथे चाजञ्ञसंयुत्ते
सुकते चित्तसिब्बने॥

२२. निवेसनानि रम्मानि
सुविभत्तानि भागसो।
नानाधञ्ञस्स पूरेत्वा
ब्राह्मणानं अदा धनं॥

गाएं, बिछौने, वस्त्र, समलंकृत स्त्रियें, उत्कृष्ट घोड़ों से संयुक्त सुनिर्मित रथ, अनेक रंगों से युक्त चित्र, अनेक भागों में विभक्त सुन्दर भवन और नानाप्रकार के धान्यों से पूरित धन ब्राह्मणों को दिया।

२३. ते च तत्थ धनं लद्धा
सन्निधिं समरोचयुं।
तेसं इच्छावतिण्णानं
भीय्योतण्हा पवड्ढथ।
ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा
ओक्काकं पुनुपागमुं॥

उन ब्राह्मणों ने राजा से धन को प्राप्त कर के संचित करना चाहा। पूरित इच्छा वाले उन ब्राह्मणों की तृष्णा और अधिक बढी। तब उस समय वे मंत्रों का संग्रह करके पुनः इक्ष्वाकु राजा के पास गये और कहा—

२४. यथा आपा च पठवी
हिरञ्ञं धनधानियं।

एवं गावो मनुस्सानं
परिक्खारो सोहि पाणिनं ।
यजस्सु बहु ते वित्तं
यजस्सु बहु ते धनं ॥

जैसे जल, पृथिवी, सुवर्ण और धन धान्य हैं उसी प्रकार मनुष्यों के लिये गौएं हैं । ये मनुष्यों की आवश्यक सामग्री है । यज्ञ कर, तेरे पास बहुत सम्पत्ति है । यज्ञ कर, तेरे पास बहुत धन हैं ।

२५. ततो च राजा सञ्ञत्तो
ब्राह्मणेहि रथेसभो ।
नेकसतसहास्सियो
गावो यञ्ञे अघातयि ॥

तब ब्राह्मणों से प्रेरित रथर्षभ राजा ने अनेक लाख गौओं का यज्ञ में घात किया ।

२६. न पादा न विसाणेन
नास्सु हिंसन्ति केनचि ।
गावो एळकसमाना
सोरता कुम्भदूहना ।
ता विसाणे गहेत्वान
राजा सत्थेन घातयि ॥

भेड के समान सीधीसादी गौएँ न पैर से न सींगसे न किसी अन्य अंगसे किसीको दुःख देती हैं, दूध के घडे दोहती हैं, उनको सींगों से पकड कर राजा ने वध किया ।

२७. ततो च देवता पितरो
इन्दो असुररक्खसा ।
अधम्मो इति पक्कन्दुं
यं सत्थं निपती गवे ॥

तब देव (सन्यासी) पितर (वनस्थ) इन्द्र (स्वयंराजा)असुर (गृहथी) और राक्षस (आश्रमधर्म से च्युत मनुष्य)चिल्लाये कि यह अधर्म है-जो कि गौ पर शस्त्र चलाया गया है।

२८. तयो रोगा पुरे आसुं
इच्छा अनसनं जरा।
पसूनञ्च समारम्भा
अट्ठानवुतिमागमुं॥

इसके पूर्व तीन रोग होते थे— इच्छा, बुभुक्षा और वृद्धावस्था। परन्तु यज्ञों में पशुवध से ९८ रोग आगये।

२९. एसो अधम्मो ओक्कन्तो
पुराणो अहु।
अदूसिकायो हञ्ञन्ति
धम्मा धंसेन्ति याजका॥

यह पशुवध करने का अधर्म इक्ष्वाकु राजा से प्रारम्भ हुआ हुआ पुराना है। इस पापकर्म में निरपराधिनी गौएँ मारी जाती हैं और याजक धर्म से च्युत हो गये हैं।

३०. एवमेसो अनुधम्मो
पोराणो विञ्ञुगरहितो
यत्थ एदिसकं पस्सति
याजकं गरहति जनो॥

इस प्रकार यह पौराणिक तथा तुच्छ धर्म बुद्धिमानों से गर्हित है। जहां मनुष्य इस प्रकार के याजक को देखता है उसकी निन्दा करता है।

३१. एवं धम्मे वियापन्ने
विभिन्ना सुद्दवेस्सिका।
पुथु विन्ना खत्तिया
पतिं भरिया अवमञ्ञथ॥

इस प्रकार धर्म के नाश होने पर शूद्र और वैश्य छिन्न भिन्न हो गये, क्षत्रिय अधिक धर्मच्युत हो गये और भार्या पति का अपमान करने लगी।

३२. खत्तिया ब्रह्मबन्धू च
ये चञ्ञे गोत्तरक्खिता।
जातिवादं निरंकत्वा
कामानं वसमन्वगू॥

क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा अन्य वर्ण जो अपने गोत्र से रक्षित थे अर्थात् अपनी जाति के अनुसार कर्म करने वाले थे, वे जाति — धर्म को छोडकर विषय भोगों के वश हो गये।

उपर्युक्त वर्णन से पाठकों को भली भाँति विदित होगया होगा कि किस प्रकार लोभ के वश में होकर ब्राह्मण लोग पतित होगये। कहाँ तो वे एक मात्र वेद-निधि की रक्षा किया करते थे और कहाँ वेदों का अनर्थ करते हुए मनघडन्त विधियें तय्यार कर के यज्ञों में पशुवध करने लगे। यह पापकर्म इक्ष्वाकु राजा से प्रारम्भ हुआ है, उस से पूर्व यज्ञों में पशुवध नहीं होता था प्रत्युत अन्न, घी और तैल आदि पदार्थों से ही यज्ञ किया जाता था। इस समांस यज्ञ की निन्दा प्रत्येक मनुष्य ने यहां तक कि राक्षस लोगों तक ने की। ऐसे याजक से मनुष्य घृणा ही करते थे। इस समांस यज्ञ से पूर्व भारत में इच्छा, बुभुक्षा और जरा -- ये ही तीन रोग थे। 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः' इस मनुवचन के अनुसार कामना से कोई मनुष्य नहीं छूटता था। प्रत्येक मनुष्य को भूख अच्छी लगती थी। और कोई मनुष्य विना जरावस्था प्राप्त किये मृत्यु का ग्रास नहीं होता था -- ये तीन रोग पहले हुआ करते थे। परन्तु इस समांस यज्ञ के पश्चात् ९८ प्रकार के रोग फैल, गये। वाचक वृन्द ! देखिए समांस यज्ञ करने से कितनी रोग वृद्धि हो गई।

इस पशुयज्ञ से और भी वडे भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सब अपने अपने धर्म से च्युत हो कर

विषय भोगों में फँस गये और पतिपत्नी का संबन्ध प्रेममय न रहा प्रत्युत पति पत्नी से अपमानित होने लगे।

इस प्रकरण से स्पष्ट होगया कि गौतम बुद्ध भी समांस यज्ञ को वेद-विरुद्ध ही समझते थे।

गौतम बुद्ध की सम्मति में अश्वमेध, पुरुषमेध, शम्याप्रास (सत्र याग) वाजपेय और निरर्गल (सर्वमेध)इन यज्ञों का क्या उच्च अभिप्राय था, वह भी बड़ा रोचक है। लीजिए उसे भी देखिए।

सारसंग्रह और संयुत्तनिकाय की कोसलसंयुत्तवण्णा में लिखा है कि ये पाँचों यज्ञ मेध अर्थात् संग्राहक थे। इनके द्वारा राजा प्रजा का संग्रह करता था और इस लोकसंग्रह के द्वारा राष्ट्र परम समृद्धि को पाता था।

१. अश्वमेध—अश्व का अर्थ है सस्य। राजा कृषकों को भूमि दे देता था और उत्पन्न सस्य में से केवल १० वाँ भाग राज्य का होता था, शेष ९ भाग कृषक अपने पास रखता था। इस से राष्ट्र में प्रभूत धान्य पैदा होता था और राजा प्रजा को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। 'सस्ससंपादने मेधाविता'।

२. पुरुषमेध— राजकर्मचारिओं को ६, ६ मास के पश्चात् वेतन और भत्ता नियमपूर्वक अवश्य दे दिया जाता था। इस से कर्मचारियों को किसी तरह की चिन्ता या अविश्वास नहीं होता था, वे दिल लगा कर कार्य करते थे। इस यज्ञ के द्वारा राजा राज—कर्मचारियों को अपने प्रिय बना लेता था। 'पुरिससंगहणे मेधाविता'।

३ शाम्याप्राम (सत्रयाग)-राजा दरिद्र मनुष्यों को तीन वर्ष तक के सत्रके लिये सहस्र दो सहस्र रुपये बिना ब्याजके दे देता था। (शम्यायै) शान्ति-स्थापन के लिये (प्रासः) रुपये के निक्षेप से इस यज्ञ का नाम 'शम्याप्रास' है। इस विधि से दरिद्र मनुष्यों का बड़ा उद्धार होता था और वे राजा के प्रेमी बने रहते थे। 'तं हि सम्मा मनुस्से पाकेति हदये बन्धित्वा विय ठपेति तस्मा सम्मापांसं'।

४. वाजपेय—वाज का अर्थ है वाच् अर्थात् वाणी । राजा, राजपुरुष और प्रजापुरुष—सब परस्पर में तात! मातुल ! भ्रातः ! मित्र ! इत्यादि प्रियवचनों और सुमधुर शब्दों का ही प्रयोग करते थे, कभी किसी के लिये कटु या अप्रिय वचन का व्यवहार नहीं किया जाता था । एवं, प्रियवचनामृत से छोटे बडे सब पेय होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'वाजपेय' था ।

५. निरर्गल (सर्वमेध —उपर्युक्त चार यज्ञों के कारण राष्ट्र में सब प्रकार से शान्ति और सुख रहता था। करोडपति मनुष्य भी गृहद्वार बंद किये विना किसी भय के प्रसन्न वदन होकर गोद में नन्हे नन्हें बच्चोंको नचाते हुए इतस्ततः स्वेच्छाविहार करते थे। उन्हें घरों में अर्गल या ताला आदि डालने की कोई आवश्यकता न थी । अतः इस यज्ञ का नाम 'निरर्गल' था ।

आहा ! जब भारत में इस प्रकार के पांचों यज्ञ प्रचलित थे तब राष्ट्र की क्या समृद्धि, शोभा और शांति होगी वह वर्णनातीत है । सचमुच स्वर्गधाम ही होगा ।

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे
राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽ-
नड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य
वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

यजुर्वेद. २२ । २२

याजक यह प्रार्थना यज्ञमें करता है, इसका अर्थ यह है कि-- " हे (ब्रह्मन्) परमात्मन् ! हमारे राष्ट्रमें ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण उत्पन्न हो, हमारे राष्ट्रमें उत्तम शूर क्षत्रिय हो, तथा अधिक दूध देनेवाली गौवें, बलवान बैल, ज्ञानी स्त्रियां, विजयी तथा सभामें पंडित युवक बने । योग्य समयमें हमारे राष्ट्रमें वृष्टि होती रहे, औषधियां फलयुक्त हों और हम सबका योगक्षेम उत्तम रीतिसे चले । "

इस याजक की प्रार्थनासे ही यज्ञके महत्व का पता लग सकता है। यज्ञका संबंध जनताके साथ है, राष्ट्रके साथ उसका संबंध है, तात्पर्य यज्ञ-संस्था वैयक्तिक अथवा खानगी नहीं है। यह यज्ञ हमेशा सार्व-जनीन अथवा राष्ट्रीय यज्ञ है। उक्त मंत्र की प्रार्थना ही देखिये कि उसमें सार्वजनिक भाव कितनी गंभीरतासे भरा है। इस लिये कोई यह न समझे कि यज्ञ खानगी है और इस में कोई किसीको प्रतिबंध कर सकता है। वेदमें अन्यत्र—

पंचजना मम होत्रं जुषन्ताम् ॥ —यजु.

" ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद भी मेरे यज्ञमें आवें " ऐसा ही कहा है। अर्थात् धर्मचर्चा करने की इच्छासे यदि कोई विद्वान इस यज्ञमें आना चाहता है तो उसको कोई प्रतिबंध कर नहीं सकता।

मैं जो यहां अब लेख लिखना चाहता हूं वह यज्ञसंस्थाके रक्षणार्थही लिखना चाहता हूं। यज्ञसंस्था वैदिक धर्म का प्राण है। यह प्रायः लुप्त हो चुकी है। कोई कोई किसी किसी समय यज्ञ करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। ऋषिकालमें ये यज्ञ हमेशा हुआ करते थे और इन यज्ञोंसे उनको लाभ भी होता था। राष्ट्रका हित साधन करनेके लिये ये यज्ञ प्राचीन कालके आर्यलोग किया करते थे। आज भी ये यज्ञ राष्ट्रहित साधक रीतिसे किये जा सकते हैं। परंतु इनकी विधिमें देश काल वर्तमान के अनुसार संशोधन होना आवश्यक है।

तथा वैदिक यज्ञ कर्ममें सूत्र कालमें जो यज्ञ प्रक्रियाओं की वृद्धि होगई है, उनका योग्य विचार होना चाहिये कि इन में योग्य कौनसा विधि है और अयोग्य विधि कौनसा है। यह यज्ञसंस्था जिनके आधीन इस समय है वे लोग अंधपरंपरा के अभिमानी होने के कारण ही यह संस्था प्रायः लुप्त होने तक अवस्था पहुंच चुकी है।

यह यज्ञ संस्था प्राचीन कालमें अनेक आवश्यक कार्योंके लिये प्रयुक्त की जाती थी। अपना और नागरिकों का आरोग्य वर्धन, रोगोंका दूरीकरण, अभीष्ट पुत्र की प्राप्ति, बल वर्धन, योग्य समय में योग्य वृष्टि करनी, राष्ट्र

की उन्नति आदि अनेक महत्वपूर्ण कार्यों के लिये ये यज्ञ किये जाते थे। इतना ही नहीं प्रत्युत शत्रुका पराजय करनेके लिये भी विशिष्ट यज्ञ रचे जाते थे। तथा शत्रु राष्ट्रमें बीमारियां फैलानेके लिये भी यज्ञका प्रयोग किया जाता था। अर्थात् अपना हित और शत्रुकी हानि करनेके कार्य में यज्ञका उपयोग भी किया जाता था।

इस समय यज्ञका शास्त्र बहुतही बढ गया था और पूर्ण हो चुका था, इसका एक अंश भी इस समय रहा नहीं है। जो वैदिक धर्म के प्रेमी हैं उनको इस विषयकी खोज इस दृष्टिसे करनी चाहिये।

यज्ञसंस्था अत्यंत प्रभावशाली है, इसी लिये उसका उपयोग बडी सावधानतासे होना चाहिये। जो शस्त्र अत्यंत तीक्ष्ण और प्रभावशाली होता है उसका उपयोग भी बडी चतुरतासे करना चाहिये अन्यथा हानि होने में कोई शंकाही नहीं।

इस समय जो यज्ञ करते हैं उस विषयमें भी हम यही कह सकते हैं कि यदि इसमें त्रुटी होगई तो बडा अनर्थ होना संभव है। इस लिये इस विषय की विशेष चर्चा होना अत्यावश्यक है।

यज्ञ विधिमें कई बातोंका विचार करना आवश्यक है, परंतु इस समय हम यज्ञमें पशुवध करने की आवश्यकता है वा नहीं, इसी विषयका विचार करना चाहते हैं। अन्य प्रसंगों में अन्य बातोंका विचार करेंगे। जो पौराणिक पंडित हैं उनका यह पक्ष है कि सोमयागमें पशु बलि आवश्यक है। हमारा इस विषयमें मतभेद है।

वैष्णव सम्प्रदाय के बडे बडे आचार्योंने पशुबलि का खंडन और पिष्टपशु का मंडन किया है। पिष्टपशु विधिमें केवल आटेका ही हवन होता है। अर्थात् जितना वैष्णव संप्रदाय प्राचीन है उतना ही पशुबलिका खंडन प्राचीन है। इस लिये यज्ञीय पशुहिंसा निषेध करनेवाला पक्ष आज का नहीं है परंतु सहस्रों वर्षोंके पूर्व कालका यह पक्ष है। कई श्रौतकर्म करनेवाले इस विचार को स्वीकारते नहीं और यज्ञमें पशुका वध करते हैं। इस लिये इसका

विचार अधिक सूक्ष्म दृष्टिसे होना चाहिये।

यज्ञके नाम।

संस्कृत में हरएक नाम सार्थ होता है। यदि यज्ञमें पशुहिंसा आवश्यक होगी तो पशुवध का अर्थ बतानेवाला नाम यज्ञके पर्याय नामोंमें होना चाहिये। परंतु वैसा नहीं है देखिये " यज्ञ " शब्द (१) देवपूजा, (२) संगति करण और (३) दान, ये तीन इस शब्दके अर्थ हैं। देवताओंका सत्कार करना, जनतामें संगति अर्थात् एकीकरण करना, और परोपकार करना ये इस शब्दके अर्थ हैं। जनता के संगति करण का भाव राष्ट्रिय दृष्टिका महत्त्वपूर्ण भाव है और यह सूचित करता है कि यज्ञसंस्था सचमुच राष्ट्रीय संस्था है।

दूसरा यज्ञ वाचकशब्द " प्रजा -पति " है। प्रजा पालनका कर्तव्य यह बता रहा है। संपूर्ण जनता के पालन का संबंध होनेसे यह शब्द राष्ट्रीय भावना ही प्रबलतासे बता रहा है।

यज्ञके पर्याय शब्द निघण्टु १।७ में दिये हैं। यहां यज्ञ नामों में "अ-ध्वर " शब्द है। इसका अर्थ " अ---हिंसा " ही है। " ध्वर " शब्द हिंसा वाचक है उसका निषेध करनेवाला अध्वर है। इसी " अध्वर " शब्दसे "अध्वर्यु" शब्द बनता है और यह अध्वर्यु यज्ञके याजकों में प्रमुख है। अहिंसामय कर्मोंको जो करता है वही अध्वर्यु होता है। यजुर्वेदका नाम भी अध्वरवेद है अर्थात् अहिंसामय कर्मका उपदेश करनेवाला वेद। ये शब्द देखने से यज्ञमें हिंसा का अभाव ही प्रतीत होगा।

यज्ञ वाचक शब्द वेदमें बहुत हैं, उन में " मेध" एक शब्द है जिसमें " हिंसा" का अर्थ अल्प अंश से है। नरमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजमेध इन शब्दोंमें उक्त प्राणियोंकी हिंसा अभीष्ट है ऐसा श्रौत कर्म करनेवालों का पक्ष है परंतु-

नृयज्ञो अतिथिपूजनम् ॥ — मनुस्मृति।

" नृयज्ञ, नरमेध का अर्थ अतिथि पूजन ही है " यदि नरयज्ञ अतिथि-

पूजन है तो अश्वयज्ञ, गोयज्ञ, अजयज्ञ ये भी अश्व, गो और अज के पूजन रूप ही होना संभव है। इनमें बलिकी कल्पना सर्वथा अनुपपन्न है। "गृहमेध, पितृमेध" आदि शब्द भी "गृहपूजा, पितृपूजा" आदि भाव ही बता रहे हैं। तात्पर्य यज्ञवाचक शब्दोंका भाव बलिदानमें नहीं है प्रत्युत उनके सत्कार में है।

हिंसाका प्रतिकार।

हिंसाका प्रतिकार करनेके लिये पंच महायज्ञ किये जाते हैं यह सब जानते ही हैं, देखिये—

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्यु-
पस्करः। कण्डनी चोदकुंभश्च बध्यते
यासु वाहयन्॥ ६८॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं
महर्षिभीः। पंच क्लृप्ता महायज्ञाः
प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ ६९॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्॥
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽ-
तिथिपूजनम्॥ ७०॥

मनुस्मृति अ. ३

" गृहस्थको ये पांच वस्तु हिंसामूल हैं चूल्हा, चक्की, बुहारी, उलूखल, मुसल, उदक का घडा, इन पांचोंके कारण जो हिंसा होती है उसकी निवृत्ति करने के लिये (ब्रह्मयज्ञ) अध्यापन, (पितृयज्ञ) पितरों की तृप्ति, (देव-यज्ञ) होम हवन, (भूतयज्ञ) अन्न का बलि अर्थात् प्राणियोंके लिये अन्न-दान, (नृयज्ञ) अतिथि सत्कार ये पांच यज्ञ करने चाहिये। "

चूल्हा चक्की आदि आवश्यक कर्मों में भी जो हिंसा होती है उसका निरा-करण करनेके लिये पूर्वोक्त पंच महायज्ञ करनेका उपदेश धर्मग्रंथ कर रहे हैं, इस से स्पष्ट होता है कि जहांतक हो सके वहांतक हिंसा न करने का उद्देश

ही वैदिक धर्मशास्त्र मनुष्योंके सन्मुख रखता है। इस लिये भूतयज्ञ के बलि शब्दसे पशुवध करना अथवा अजमेधादिमें पशुहिंसा की कल्पना करना सर्वथा असंगत है। जो लोग चक्की की हिंसा दूर करनेके लिये उपाय मानकर एक यज्ञ करेंगे उसमें भी फिर हिंसा की कल्पना करनी युक्तियुक्त कदापि नहीं है। मूल वैदिक धर्मका तत्त्व अहिंसा सिद्धि के लिये ही साधक है यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। देखिये श्रुतिका उद्देश्य क्या है —

> यजमानस्य पशून् पाहि ॥ यजु. १।१
> गां मा हिंसीः ॥ ४३ ॥ इमं मा
> हिंसीः द्विपादं पशुं ॥ ४७ ॥ इमं
> मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रद-
> ह्वाजिनं वाजिनेषु ॥ ४८ ॥ घृतं-
> दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः
> ॥ ४९ ॥ गवयं मा हिंसीः ॥
> इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं
> पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्। मा
> हिंसीः ॥ यजु. १२

" यजमानके पशूओंका रक्षण कर। गाय, द्विपाद पशु, घोडा, बकरा आदि की हिंसा न कर " तथा—

> ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं
> हिंसीः ॥ यजु. ४

" हे घास! तू इसको बचा और हे शस्त्र! तू इसकी हिंसा न करे। " इत्यादि मंत्र स्पष्टतासे अहिंसा का ही उपदेश कर रहे हैं। ये यजुर्वेदके मंत्र यजुर्वेद का भाव ही व्यक्त कर रहे हैं। अतः इन मंत्रोंके तात्पर्यसे ही अन्य मंत्रों का तथा ब्राह्मणोक्त विधिका अर्थ देखना योग्य है। ब्राह्मणग्रंथभी यही अहिंसाका भाव कंठरवसे कह रहे हैं।—

पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे ।
तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ।
सोऽश्वं प्रविवेश । तेऽश्वमालभन्त ।
तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम ।
स गां प्रविवेश । ते गामालभन्त ।
तस्यालब्धाया मेधोपचक्राम ।
सोऽविं प्रविवेश । तेऽविमालभन्त ।
तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम ।
सोऽजं प्रविवेश । तेऽजमालभन्त
तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम । स
इमां पृथिवीं प्रविवेश । तं खनन्त
इवान्वीषुः । तं अन्वाविंदन् । तौ
इमौ व्रीहियवौ ॥ स यावद्वीर्यवद्ध ह
वा अस्य एते सर्वे पशव आलब्धाः
स्युः तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव
भवति । य एवमेतद्वेद । अत्रो
सा संपद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति ।
शतपथ ब्रा० १।२।३।६-९ ॥

(१) प्रारंभमें देवोंने पुरुषका बलिदान दिया। उसी समय उससे पवित्र भाग चला गया और वह घोडेमें प्रविष्ट हुआ २) उन्होंने घोडेको मारा, मारते ही उससे पवित्र भाग चला गया और वह गौ में प्रविष्ट हुआ। (३) उन्होंने गौका बलिदान किया, उसी समय उससे पवित्र भाग चला गया, और वह मेढेमें चला गया (४) उन्होंने मेढेको मारा, उसी समय उससे पवित्र भाग चला गया और वह बकरे में प्रविष्ट हुआ। (५) उन्होंने बकरेको मारा, उसी समय इससे पवित्र भाग चला गया और वह इस पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ (६) वे देव खोदने लगे। भूमि खोदनेसे उनको चावल और जौ प्राप्त

हुए। [७] इन चावल और जौ से जो हवि किया जाता है। उसका वीर्य और बल उतना ही होता है कि जितना वीर्य पूर्वोक्त हवियोंका होता है।

यह शतपथ का कथन स्पष्ट है। पहिले देवोंने मनुष्य, घोडा, गाय, मेंढा और बकरा ये पांच पशु बलिरूपमें अर्पण किये। परंतु उनमेंसे हवनीय भाग चला गया और वह अंतमें भूमिमें स्थिर रहा। यही भाग धान्य रूपसे ऊपर आगया। इसलिये बीजोंका अर्थात् धान्योंका हवन करना चाहिए।

धान्योंका हवन करनेसे हवनीय भागकहि हवन हो सकता है, परंतु पूर्वोक्त पशुओंका हवन करनेका यत्न करनेसे उनमें हवनीय भाग प्राप्त ही नहीं होता जो हवनीय भाग पशुओंके वधसे देवोंको प्राप्त नहीं हुआ वह साधारण मनुष्य पशुशरीरसे प्राप्त कर सकते हैं ऐसा कहना अयोग्य ही है, क्यों कि ऐसा होनाही असंभव है। तात्पर्य उक्त शतपथ वचन का भाव यही है कि इसके पश्चात् धान्य, आटा आदिका ही हवन होना योग्य है।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही वचन है, इस लिये वह वचन फिर यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है। पशुके अंगोंकी परिभाषा भी आटेके गोलेके भागोंके साथ बताई है वह यहां देखिये —

पारिभाषिक शब्द।

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति।
यदाप आनयति अथ त्वग्भवति।
यदा संयौत्यथ मांसं भवति।
संतत इव हि तर्हि भवति संततमिव
हि मांसं यदाशृतोऽथास्थि भवति।
दारुण इव हि तर्हि भवति।
दारुणमित्यस्थि। अथ यदुद्वा-
सयन्नाभिधारयति तं मज्जानं
ददाति एषो सा संपद्यदाहुः पांक्तः
पशुरिति॥

१ जो आटा होता है वह लोम किंवा रोम हैं।

२ जब उसमें पानी मिलाते हैं तब वह चमडा होता है क्यों कि चमडेके समान वह नरम होता है।

३ जब गूंदा जाता है तब वही मांस होता है क्योंकि वह बहुत चिकनासा होता है।

४ जब वह तपाया जाता है तब उसका नाम आस्थि है। क्योंकि हड्डी सख्त होती है।

५ जब उसमें घी डाला जाता है तो उसका नाम मज्जा होता है।

इस प्रकार पशुके पांच भाग आटेसे ही होते हैं। यज्ञ की विधिमें जहां लोम, त्वक्, मांस, आस्थि, मज्जा ये पांच नाम आवेंगे वहां वहां पशुके भाग अभीष्ट नहीं हैं, परंतु आटेके इस प्रकार बनाये हुए भाग अभीष्ट हैं। यह परिभाषा ब्राह्मण ग्रंथोंमें प्रारंभ में ही दी है। यह प्रारंभमें इसी लिये दी है कि आगे यज्ञ विधिके समय इन पारिभाषिक शब्दोंका उपयोग करके ही यज्ञ विधि बनाया जावे। जो लोग यह परिभाषा नहीं देखेंगे, उनका विधि ठीक नहीं होगा। क्यों कि ब्राह्मण ग्रंथोंमें स्पष्ट कहा है—

पशवो वा इळा ॥ ऐ. ब्रा. १।२।१०।
पशुभ्यो वै मेध उदक्रामंस्तौ व्रीहिश्चैव
यवश्च भूतावजेयाताम् ॥
ऐ. ब्रा. २।२।२१

[१] भूमि ही पशु है क्यों कि [२] पशुओंसे मेध्य हवनीय भाग चला गया जो भूमिसे ही चावल और जौ के रूपसे ऊपर आया है।

यह ब्राह्मण ग्रंथोंमें इसलिये कहा होता है कि अब पशुका बलिदान कोई न करे और चावल तथा जौ के आटेका ही बली दिया करें। प्राचीन लोगोंने मनुष्य, घोडा, गाय, मेंढा और बकरा इन पांचोंका बलिदान करके अनुभव लिया, उस परीक्षण के समय उनको यह अनुभव हुआ कि प्राणियोंका वध करनेके पश्चात् उनके शरीरसे मेध्यभाग प्राप्त नहीं होता। अतः

उनका वध व्यर्थसा हो जाता है। जो मेध्य भाग हवन में अभीष्ट है वह उक्त धान्य में प्राप्त होता है। धान्य में मेध्य भाग अनायाससे प्राप्त होता है और पशुके शरीरसे मेध्य भाग प्रयत्नसेभी प्राप्त नहीं होता। इसलिए पशुबलिसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जो अभीष्ट है वह सब धान्यके हवन से ही होता है।

हरएक यज्ञकर्ताको यह ब्राह्मण ग्रंथका उपदेश वचन विचार करके देखने योग्य है।

यज्ञका उद्देश्य।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतु-
संधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते
गो. ब्रा. उ प्र. १।१९॥
ओषधीष्वेव यज्ञं प्रतिष्ठापयति। गो. ब्रा. उ. प्र. २।१३॥
पशवो वै धानाः॥ गो. ब्रा. उ. प्र. ४।६

(१) ये यज्ञ औषधियोंके ही यज्ञ हैं, इसी लिये ऋतु के संधिसमयमें किये जाते हैं क्यों कि ऋतुके संधिसमयमें ही व्याधियां उत्पन्न होती हैं।

(२) औषधियोंमें ही यज्ञ प्रतिष्ठित होता है।

(३) धान्य ही पशु है।

इस गोपथ ब्राह्मण के वचन में यज्ञ का उद्देश्य स्पष्ट बताया है। ऋतु संधि के समय व्याधि उत्पन्न होती है और जनता को बडा कष्ट भोगना पडता है, इसलिये राष्ट्रके हितके लिये ऋतु संधियोंमें यज्ञ किया जाता है। यज्ञविधिमें पशु शब्द का अर्थ एक प्रकारका धान्य ही है। अर्थात् कोई इस भ्रम में न रहे कि यज्ञविधिमें पशु और उसके अंगोंके नाम आगये इस लिये यहां पशुही अभीष्ट है। गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट ही कहा है कि एक प्रकारका धान्य ही पशुशब्दसे लेना चाहिये। अस्तु। इस प्रकार यह बात अब स्पष्ट होगई। अब इतिहास ग्रंथोंकी साक्षी देखिये—

महाभारतकी साक्षी।

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं

कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नै-
तद्वेदेषु कल्पितम्॥ १०॥ माना-
न्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रक-
ल्पितम्। विष्णुमेवाभिजानन्तिसर्व-
यज्ञेषु ब्राह्मणाः॥ ११॥पायसैः सुमनो-
भिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् यज्ञि—
याश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः॥ १२॥

म. भारत. शांति.

" सुरा, मत्स्य, मद्य, मांस, आसव आदि सब व्यवहार धूर्तोंका किया हुआ है। यह वेदोंमें नहीं है। मान, मोह, लोभ अथवा जिह्वाकी लुब्धता आदिसे यह बनाया गया है। वास्तव में सच्चे ब्राह्मण संपूर्ण यज्ञोंमें एक (विष्णु) व्यापक परमात्माकी ही पूजा करते हैं और मनोहर पायससे उसका यजन करते हैं तथा वेदोंमें कहे यज्ञीय वृक्ष जो हैं उनकी समिधाओं का उपयोग करते हैं।

यह महाभारतकी साक्षी है। व्यास भगवान् वेदका आशय यहां बताते हैं कि यज्ञमें पायस का हवन है, न कि मांसादिक का हवन इष्ट है। तथा और देखिये —

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी
श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि
छागं नो हन्तुमर्हथ॥ नैष धर्मः
सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः॥

म.भारत. शांति. ३३७

"(१) बीजोंसे यज्ञमें यजन करना चाहिये यह वेदकी श्रुति है। (२) अज संज्ञक बीज होते हैं इसलिये बकरेका हनन करना योग्य नहीं है। (३) जिस कर्ममें पशुका हनन हो वह सज्जनों का धर्म नहीं है।"

इस वचनमें व्यास भगवान् का स्पष्ट तात्पर्य है कि सज्जन जो यज्ञ करते

हैं उसमें पशुवध करना अभीष्ट नहीं है । वैदिक श्रुतिका आशय यह है कि बीजों और धान्योंका हवन यज्ञमें होवे, पशुमांसके हवन के लिये वेदकी श्रुतिमें प्रमाण नहीं है । महाभारत स्पष्ट शब्दों में यज्ञमें पशुवधका निषेध कर रहा है ।

तथा और देखिये—

तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो
महात्मनः ॥ ३३ बृहस्पतिरुपा-
ध्यायस्तत्र होता बभूव ह । प्रजापति-
सुताश्चात्र सदस्याश्चा भवंस्त्रयः ॥ ३४ ॥
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव
महानृषिः । ऋषिः शांतिर्महाभाग-
स्तथा वेदशिराश्च यः ॥ ३५ ॥ ऋषि-
श्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता
स्मृतः । आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च
एते षोडश ऋत्विजः ॥ ३७ ॥
संभूताः सर्वसंभारास्तस्मिन्
राजन्महाक्रतौ ॥ न तत्र पशुघातोऽ-
भूत् स राजैवास्थितोऽभवत् ॥ ३८ ॥

म० भारत शांति०

" उस राजाका बडा भारी अश्वमेध हुआ । उसमें बृहस्पति उपाध्याय होता था, प्रजापतिके पुत्र सदस्य बने थे, मेधातिथि, ताण्ड्य, शांति, वेदशिराः, कपिल, कठ, तैत्तिरि, आदि बडे बडे ऋषि उस यज्ञमें ऋत्विज बने थे । उस यज्ञमें सब सामग्री विपुल इकट्ठी की थीं, परंतु वहां एक भी पशुका वध नहीं हुआ था । " अर्थात् पशुवध के विनाही यह अश्वमेध हो गया था । यदि अश्वमेध पशुवधके विना हो सकता है तो क्या अजमेध नहीं हो सकता ?

देवी भागवत की साक्षी।

पशुहीनाः कृता यज्ञाः पुरोडाशादिभिः किल ॥ ३४ ॥

देवी भा. १ । ३

" केवल पुरोडाश से ही अर्थात्, पशुघात न करते हुए ही, अनेक यज्ञ किये गये थे।"

यह देवी भागवत का कथन यहां मनन करने योग्य है। महाभारत के कथन के साथ इसकी संगति लगानेसे पशुवध रहित यज्ञ का भाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

हिंसाकी संतति।

अब हिंसा की संतति भी प्रसंगसे यहां देखने योग्य है।

हिंसा भार्या त्वधर्मस्य तयोर्जज्ञे
तथाऽनृतम्। कन्या च निकृतिस्ताभ्यां
भयं नरकमेवच ॥ २९ ॥ माया च
वेदना चैव मिथुनं त्विदमेतयोः।
तयोर्जज्ञेऽथ वै माया मृत्युं भूताप-
हारिणम् ॥ ३० ॥ वेदना स्वसुतं
चापि दुःखं जज्ञेऽथ रौरवात् ॥
मृत्योर्व्याधिजराशोकतृष्णाक्रोधाश्च
जज्ञिरे ॥ ३१ ॥ विष्णु पु. १ । ७

इसका चित्र यह है—

अधर्म. हिंसा.
अनृत निकृति
भय माया — नरक वेदना
मृत्यु — दुःख
व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा, क्रोध
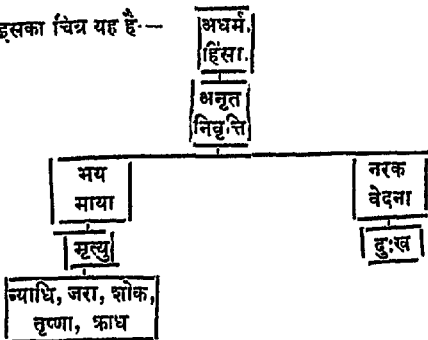
यह अधर्म और हिंसाकी संतति है । यज्ञमें जो हिंसा करते हैं उनकी यही गति होगी इस लिये इनको इस भयानक परिणाम का ख्याल रखना योग्य है ।

यज्ञमें प्रतिनिधि ।

प्रायः इस समय प्रतिनिधि सेही यज्ञ किया जाता है। जो यज्ञ अजमेध है उसीका नाम 'सोमयाग' है, परंतु आश्चर्य की बात यह है कि इसमें "सोमवल्ली" ही नहीं है, सोमकी उपस्थिति जहां नहीं और उसके स्थानपर जो दूसराही पदार्थ लिया गया है, तो इस यागको "सोमयाग" किस प्रकार कहा जाता है । और यदि मुख्य सोमवल्ली का कार्य प्रतिनिधिसे ही लिया जाता है, तो क्या पशुके स्थानपर प्रतिनिधि जो पूर्वस्थलमें कहा है नहीं लिया जा सकता ?

इसी यज्ञ में कई इष्टियां संक्षेपसे, कई प्रतिनिधिसे और कई संकेतसे की गई हैं । यदि यह अवस्था है तो केवल बकरा मारनेका ही आग्रह क्यों किया जाता है। पशुके स्थानपर पुरोडाश का हवन ब्राह्मण ग्रंथमें स्वीकारित हो चुका है, इसलिये यदि वही करेंगे तो किसी प्रकार भी अनुचित नहीं होगा ।

यज्ञ का क्षेत्र।

वैदिक धर्ममें " यज्ञसंस्था " प्रधानपद रखती है। वेदमें यज्ञके वर्णनपर जितने मंत्र हैं उतने किसी अन्य विषयके वर्णन के लिये नहीं आये हैं। इस कारण यज्ञ क्या हैं और उसका कार्यक्षेत्र कितना विस्तृत है इसका विचार होना अत्यावश्यक है। इस बातका विचार इस लेखमें करनेका संकल्प किया है। भगवद्गीतामें जहां यज्ञका प्रकरण चला है वहां यह यज्ञ प्रजाओंके साथ उत्पन्न होनेका वर्णन है--

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥ देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

—भ० गीता अ० ३

" प्रारंभमें यज्ञके साथ साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने उनसे कहा इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति हो, यह यज्ञ मनोवांछित फल देनेवाला तुम्हारे लिये होवे। तुम इस यज्ञसे देवताओं को संतुष्ट करते रहो और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए दोनों परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो।

इसमें स्पष्ट बताया है कि (१) यज्ञ प्रजाके साथ उत्पन्न हुआ है, (२) यज्ञमें देवताओं और मनुष्योंका घनिष्ट संबंध होता है.(३) और परस्परकी सहायता परस्परको प्राप्त होकर उन्नति होती है।

" अदेव " जो हैं वे " देवों " की सहायतासे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसीलिये " अदेवों " को आवश्यक होता है कि वे देवोंकी पूजा करें, देवोंके साथ संगति करें और देवोंके लिये आत्मसमर्पण करें। यज्ञ शब्दका भी यही अर्थ है। अस्तु। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यज्ञ उतना प्राचीन है कि जितनी मनुष्यजाति प्राचीन है। मनुष्यका जीवन ही यज्ञसे होता है और उन्नति भी उसीसे होती है। यज्ञ मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है और वह उसके साथ सदा रहता है, जो मनुष्य यज्ञको ठीक प्रकार करता है, उसकी उन्नति और जो ठीक प्रकार नहीं करता उसकी अवनति होती है।

यज्ञमें ब्रह्म।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

—भ. गीता. ३। १५

"सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञमें नित्य रहता है।" यह सर्वव्यापक ब्रह्मका प्रतिष्ठान जो यज्ञमें है, वह हर एक को देखना चाहिए; यज्ञकी सिद्धता उत्तम रीति से प्राप्त होनेके लिये इस ज्ञानकी विशेष ही आवश्यकता है। इस ज्ञानके विना यज्ञकी फल प्राप्ति पूर्णतासे नहीं हो सकती। यज्ञसे कर्मके बंधका नाश होता है इस विषयमें निम्न लिखित वचन देखिये —

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥ —भ. गीता ४

"आसक्तिरहित, रागद्वेषसे मुक्त, ज्ञानमें स्थित, और यज्ञके लिये ही जो कर्म करते हैं उनका सब कर्म विलीन हो जाता है, अर्थात् कर्मकी बाधा उन को नहीं होती।" परंतु यह कर्मबन्ध तब छूट सकता है कि जब यजमान निष्कामभावसे युक्त हो, रागद्वेष उसमें न हो, ज्ञानमें ही चित्तको स्थिर करने वाला हो और केवल यज्ञके लिये ही कर्म करे। आज कल जो यज्ञ कर्म होते हैं वे स्वर्ग आनन्द, सुख की इच्छा आदिके कारण होते हैं और इस

वचनके अन्य भाव भी याजकों में नहीं होते, इस लिये ये यज्ञ कर्मकर्ताको अवश्य बाधक होते हैं।

ब्रह्म भावनासे यज्ञ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥ —भ. गीता. अ. ४.

"अर्पण अथवा हवनक्रिया ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्निमें हवन किया जाता है और ब्रह्म ही हवन कर्ता है। इस प्रकार जिसकी बुद्धिमें सभी कर्म ब्रह्मरूप हो जाते हैं वह ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।"

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वत्र ब्रह्मका चमत्कार जो अनुभवता है वही यह भावना मनमें धारण करके यज्ञ कर सकता है। अन्योंसे यह ब्रह्मयज्ञ नहीं हो सकता। ब्रह्मयज्ञही सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ यज्ञ है और वह करनेके लिये उक्त प्रकार भावना यज्ञ कर्ताके मनमें स्थिर होनी आवश्यक है। यही भाव अन्य रीतिसे निम्न श्लोकमें बताया है।

सर्वात्मभाव से यज्ञ।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्। मंत्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥ —भ. गीता. ९

" क्रतु मैं हूं, यज्ञ मैं हूं स्वधा मैं हूं, औषधि मैं हूं, मंत्र, घी, अग्नि और हवन भी मैं ही हूं।"

पूर्व श्लोकमें "ब्रह्म" शब्दका प्रयोग है और इस श्लोकमें "अहं" अर्थात् "मैं" शब्दका प्रयोग है। ब्रह्मशब्द व्यापक आत्माका वाचक है और "अहं" शब्द देहमें कार्य करनेवाले आत्मा के वाचक है। भगवद्गीताको अभीष्ट है कि दोनों दृष्टियोंसे यज्ञका स्वरूप ऐसा आत्ममय होना चाहिए। ब्रह्मदृष्टि हरएक के समझमें और अनुभवमें नहीं आसकती, परंतु "अहं" दृष्टिसे देखना हरएक के समझमें आसकता है। योगीराज श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञके सपूर्ण पदार्थ "मैं हूं" इस भावनासे देखें कि इस दिव्य दृष्टिसे क्या फल निकलता है। इसका प्रयोग ऐसा है—

"यह सोमयाग मैं हूं, इस में प्रयुक्त होनेवाली हवन सामग्री, औषधियां,

समिधाएं सब मैं हूं, सब ऋत्विज मैं हूं, यह कुंडका अग्नि मैं हूं, घी आदि पदार्थ भी मैं हूं। यज्ञीय पशु भी मैं हूं। "

पाठक यहां भगवद्गीता की भावना मनमें क्षणमात्र धारण करें और उसी पर विचार करें कि इस भावना का परिणाम क्या होगा। यह " सर्वात्मभाव " की भावना है। यह भावना मनमें आते ही "कौन किसको क्यों मारेगा ? " यज्ञीय पशुकी आत्मा और मेरी आत्मा समान या एक है, " मैं ही वह पशु हूं" यह भावना जिस समय मनमें स्थिर होगी उस समय " पशुका वध " करना "आत्मघात" करनेके समान ही होगा और इसी कारण इस भावनाके पश्चात् यज्ञमें पशुवध असंभव होता है। जिन जिन- महा पुरुषोंने पशुहीन यज्ञ किये थे, जैसा कि महाभारत में वर्णन है, वे इस भावनासेही किये थे।

" पशुका आत्मा अपने आत्मा के समान ही है " यह भाव उत्पन्न करके श्रीमद्भगवद्गीता यजमानको पशुवधसे निवृत्त कर रही है। यह युक्ति पाठक अवश्य देखें। पूर्वोक्त दोनों वचनोंका फलित यही है। भगवतद्गीताका उद्देश्य यहां स्पष्ट हो रहा है। व्यापक ब्रह्मभाव अथवा व्यापक अहंभाव (आत्मभाव) अर्थात् "सर्वत्र आत्मवत् भाव रखना" यज्ञ प्रक्रियामें कितना क्रांतिकारक है इसका यहां पाठक विचार कर सकते हैं। सौ शास्त्रार्थ जो कार्य कर नहीं सकते वह कार्य श्री. भगवद्गीताके सर्वात्मभावके उपदेशसेही सिद्ध किया गया है। हरएक यज्ञकर्ता इसका मनन करे।

दैवी संपत्तिका यज्ञ।

भगवद्गीतामें दैवी संपत्तिका वर्णन है उसमें यज्ञका परिगणन है देखिये—

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ २ ॥ अहिंसा सत्यमक्रोध-स्त्यागः शांतिरपैशुनम् ॥ दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ ३ ॥ तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ४ ॥ — भ० गी० १६

"दैवी संपत्तिमें...दम, यज्ञ, अहिंसा- भूतदया, निर्लोभवृत्ति...शुद्धता" ये गुण हैं।

कौनसा यज्ञ दैवी संपत्तिमें आता है इसका इन गुणों के साहचर्य से पता लग

सकता है (१) इंद्रियसंयम (२) अहिंसा (३) भूतदया, (४) निर्लोभवृत्ति, (५) शुद्धता ये गुण जिसके साथ रहते हैं वह यज्ञ दैवी संपत्तिमें आता है, इसके विरुद्ध आसुरी संपत्तिका यज्ञ है जिसमें (१) विषयी इंद्रिय वृत्ति,(२) हिंसा, (३)भूतदयाका अभाव, (४)लोभ, (५) मलीनता ये गुण होते हैं। देखिये —

(१)दैवी संपत्तिका यज्ञ = इसमें यजमान इंद्रिय संयम करेगा, अहिंसा, भूतदया आदि भावोंके साथ वह दूसरोंके साथ व्यवहार करेगा, लोभको छोडेगा और पवित्रता रखेगा।

(२)आसुरी संपत्ति का यज्ञ = इसमें यजमान इंद्रिय दमन नहीं करता, भूतदया छोडकर अन्योंकी हिंसा करता है, स्वर्गादिका लोभ धारण करता है, तथा पशुमांस रक्तादिका संबंध होनेसे अपवित्र भी रहता है।

अब भगवद्गीता की दृष्टिसे इन दो यज्ञों का फल भी यहां देखिये—

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायाऽऽसुरी मता ॥ — भ. गीता. १६।५

" दैवी संपत्तिसे मोक्ष व आसुरी संपत्तिसे बंधन होता है। "

अर्थात् हिंसारहित धान्यहवन करनेसे दैवी संपत्तिका यज्ञ होकर वह मोक्ष-तक पहुंच सकता है। परंतु आग्रहसे पशुहिंसा करके यज्ञ करनेसे वह आसुरी संपत्तिका कर्म होनेके कारण वह यजमान को बंधनकारक होता है। पशुयज्ञ करनेवाले इसका अवश्य विचार करें। भगवद्गीता यज्ञ करनेकाही उपदेश कर रही है, यज्ञ संस्थाका खंडन नहीं करती, यह देखने के लिये निम्न श्लोक देखिये—

अवश्य कर्तव्य।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥ एतान्यपि तु कौंतेय संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥ — भ. गी. १८

"यज्ञ, दान,तप और कर्म का त्याग नहीं करना ही चाहिये, इनको करना ही चाहिये। बुद्धिमानों को ये यज्ञ, दान, तप पावन करते हैं। इस लिये इन कर्मोंको विना आसक्ति, फलोंका त्याग करके करते रहना चाहिये। "

यह गीताका उपदेश योग्य ही है। परंतु जो यज्ञ करना चाहिये वह हिंसारहित दैवी संपत्तिवाला यज्ञ होना चाहिये,इस विषयकी स्पष्ट आज्ञा पहिले आचुकी है। अब स्वर्ग चाहने वाले लोग पशुयागादि हिंसाप्रधान कर्म जो करते हैं उनकी निम्न प्रकार निंदा भगवान् करते हैं—

आवागमन का भय।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्य-मासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं भुंक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ॥ एवं त्रयी-धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥ —भ० गीता ९

"तीन विद्याओंके जाननेवाले, सोमपान करने वाले, यज्ञ करके स्वर्गकी इच्छा करते हैं। वे स्वर्गके भोगको भोगते हैं। पुण्य क्षीण होनेके पश्चात् फिर जन्म लेकर मृत्युलोकमें आते हैं। इसप्रकार इनको वारंवार आवागमन भोगना पडता है।"

इन श्लोकोंका यह तात्पर्य है, स्वर्ग भोगनेकी इच्छासे जो पशुयागादि कर्म किये जाते हैं ,उनका परिणाम आवागमन में अर्थात् यातनामें ही होता है। इससे यह सिद्ध है कि यजमान पूर्वोक्त दैवी संपत्तिवाला अहिंसामय यज्ञ करके मोक्षका भागी बने और हिंसाप्रधान यज्ञ करके आवागमनमें न फसें। इतने वर्णनसे यह स्पष्टही सिद्ध होता है कि यज्ञ अनेक हैं। दैवीसंपत्तिवाले यज्ञ मोक्ष देनेवाले और आसुरी संपत्तिके यज्ञ बंधन करनें वाले होते हैं यह ऊपर बताया; अब अन्याय यज्ञोंका भी विचार करना चाहिये। इसका वि-चार करनेके लिये निम्न लिखित श्लोक देखिये—

अनेक यज्ञ।

दैवमेवाऽपरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥ श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्वि-षयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥ द्रव्ययज्ञास्तपो-यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः

॥ २८ ॥ अपाने जुह्वति प्राणं प्रणे पानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥ अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३० ॥ यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम्॥ नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥ एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥३३ ॥ —भ. गीता. अ.४

इन श्लोकोंमें जिन यज्ञोंका वर्णन आया है वे ये यज्ञ हैं —

(१) योगियोंका दैवयज्ञ = इस यज्ञमें अग्नि सूर्य आदि देवताओं के साथ अपने वाक्, चक्षु आदिका संबंध अनुभव करके दैवी शक्तिके द्वारा अपनी शक्तियोंकी उन्नति करनेका योगानुष्ठान करना होता है।

(२) ब्रह्मयज्ञ = ब्रह्माग्निमें यज्ञ का यज्ञ करना होता है। ज्ञानाग्निमें कर्मका हवन, अर्थात् ज्ञानाग्निसे सब कर्मोंका भस्म करना। इसीका नाम ज्ञानयज्ञभी है।

(३) संयमयज्ञ = संयम रूप अग्नि में श्रोत्रादि इंद्रियों का हवन। इंद्रियों का संयम करना और भोग बढानेकी इच्छा कम करनी।

(४) इंद्रिय यज्ञ = शब्दादि विषयों का अर्पण योग्य मर्यादा तक इंद्रियोंमें करना अर्थात् जितना भोगनेसे हानि नहीं होगी उस मर्यादा तक विषय भोग भोगकर आत्म उन्नतिका साधन करना।

(५) आत्म संयम योग यज्ञ = आत्म संयम के योगाग्निमें इंद्रियों और प्राणोंके कर्मोंका हवन। अर्थात् संपूर्ण कर्मोंका संयम करना।

(६) द्रव्य यज्ञ = द्रव्यका परोपकार के शुभ कार्योंमें सद्व्यय करना।

(७) तपोयज्ञ = शीत उष्णादि द्वंद्व सहन करनेका अभ्यास बढाना।

(८) योगयज्ञ = योगसाधनके सब प्रकार इसमें आते हैं। योगसाधनद्वारा आत्मोन्नति।

(९) स्वाध्याय यज्ञ = अपना अभ्यास करना, सत्य विद्याके ग्रंथोंका अध्ययन तथा अध्यापन करना।

(१०) ज्ञान यज्ञ = ज्ञान प्राप्त करना, और उसका उपदेश करना।

(११) अपान यज्ञ = अपानमें प्राणका यज्ञ।

(१२) प्राण यज्ञ = प्राणमें अपान का अर्पण।

(१३) कुंभक यज्ञ = प्राण और अपान की गति स्तब्ध करके केवल कुंभक का अभ्यास बढाना।

(१४) प्राणाग्नि होत्र = आहार का नियम करके प्राणोंका प्राणमें अर्पण।

ये सब प्राण यज्ञ योग शास्त्रसे संबंध रखते हैं।

" इन यज्ञों से पाप दूर होते हैं और ब्रह्मप्राप्ति होती है। यज्ञके विना इस लोकमें उन्नति नहीं हो सकती फिर परलोकमें सद्गति कैसी हो सकती है। इस प्रकार अनेक यज्ञ हैं, परंतु द्रव्य यज्ञसे ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है। "

इस प्रकार अनेक यज्ञोंका वर्णन भगवद्गीतामें कहा है, परंतु किसी स्थानपर पशुवध करके उसके मांसका हवन करने का उल्लेख तक नहीं है। हिंसामय यज्ञों से अधोगति होनेकी सूचना दी है, परंतु उन यज्ञोंका नामनिर्देश भी नहीं किया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भगवद्गीता हिंसामय यज्ञोंको सर्वथा तिरस्करणीय समझती है और इसीलिये उसके वाचक शब्दोंका उच्चारतक नहीं करती। जहां सबसे श्रेष्ठ यज्ञके वर्णन का प्रसंग आगया है वहां भगवान् कृष्ण ने कहा है--

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि ॥

— भ० गीता १०। २५

" यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूं। " ओंकारादि मंत्रोंका जप करना यह जपयज्ञ है और यही यज्ञ संपूर्ण यज्ञोंमें श्रेष्ठ है। विभूतियोगमें यह वाक्य है, यदि परमेश्वर की विभूति किसी यज्ञमें प्रकट हो सकती है तो विशेषकर जपयज्ञ में ही हो सकती है। पशुका घात पात करके जो यज्ञ होता है उसमें दयाका अभाव होनेके कारण उसमें परमेश्वर की विभूती प्रगट नहीं हो सकती यह वाक्य इस दृष्टिसे अत्यंत महत्त्व रखता है।

इस रीतिसे श्रीमद्भगवद्गीताके यज्ञ विचारोंका निरीक्षण किया, जिस सेस्प

होगया है कि जिसमें भूत दया, अहिंसा, पवित्रता, संयम आदि हैं, वह दैवी संपत्तिवाला यज्ञ ही करना मनुष्यके लिये हितकारक तथा उन्नतिकारक है। जिस में भूतदया नहीं और हिंसा प्रधान है वैसा आसुरी संपत्तिका यज्ञ करना मनुष्य की अधोगति करनेका हेतु है, इस लिये ये आसुरी यज्ञ करना किसी को भी योग्य नहीं है ।

उपनिषद् में यज्ञका वर्णन ।

यहांतक हमने भगवद्गीताका आशय देखा, अब भगवद्गीता जिस आधार पर बनी है उन उपनिषदोंमें यज्ञकी कल्पना किस ढंगसे वर्णन की है यह यहां देखना चाहिये । सब से पाहिले मुंडक उपनिषद् का वचन हमारे सन्मुख आता है जिसमें इस यज्ञ कर्मकी कंठरवसे निंदा ही की है ॥ देखिये—

हीन कर्म ।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ ७ ॥ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितंमन्यमानाः । जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥ अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभि मन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥ —मुंडक उप. १।२

" जिसमें अठारह ऋत्विजोंका (अवरं कर्म) हीन कर्म है वह यज्ञरूप नौका दृढ नहीं है अर्थात् उससे मनुष्य पार नहीं हो सकता । इसी को जो मूढ लोग श्रेय अर्थात् कल्याणकारक समझते हैं, वे वारंवार मृत्युके ही आधीन होते हैं । स्वयं अविद्यामें रहते हुए भी जो अपने आपको बडे पंडित और ज्ञानी समझते हैं वे मूढ अंधेके पीछेसे चलने वालों के समान गिरते ही जाते हैं । अविद्यामें रहते हुए भी बाल अर्थात् मूढ लोग अपने आपको कृतार्थ समझते हैं, परंतु वे अंतमें दुःखी होकर हीन अवस्थामें गिरते हैं । "

पशुबंधादि यज्ञयाग करने वालोंका यह उपनिषद् में किया हुआ वर्णन

हरएक यज्ञकर्ताको देखना चाहिये। इस वर्णन में--

मूढाः = मूर्ख,

अविद्यायां वर्तमानाः = अविद्यामें रहने वाले,

पंडितंमन्यमानाः = पंडिताईकी घमंड करनेवाले,

अंधेन नीयमानाः अंधाः = अंधेके पीछे जाने वाले अंधे,

बालाः = बालक, मूर्ख।

ये शब्द कितने सख्त हैं, इसका पाठक ही विचार करें। इस प्रकार कठो शब्द आजकल कोई प्रयुक्त भी नहीं करता, ऐसे कठोर शब्दों द्वारा उपनिष त्कार इनकी निंदा करते हैं। इनके पशुबंधादि यज्ञ कर्मोंकी भी कम निंदा नहीं की है, देखिये —

यज्ञरूपाः अदृढाः प्लवाः=यज्ञ रूप नौका सुदृढ नहीं है। टूटा हुआ बेडा,

अवरं कर्म = हीन कर्म,

अविद्या = अज्ञानमय कर्म।

ये भी शब्द बडे कठोर हैं। उपनिषत्कार इतने कठोर शब्दोंसे इस पशु-बंधादि यागोंका खंडन करते हैं। इसको देखने से स्पष्ट पता लगता है कि उपनिषत्कार इनके बडे भारी विरोधी हैं। इस प्रकार पशुबंध यज्ञका खंडन करते हुए उपनिषत्कार बताते हैं कि यज्ञकर्ता ऋत्विजलोग कैसे होने चाहिये-

देवताका ज्ञान।

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥ उद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानु-द्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥ प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहार-मन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥११॥

—छांदोग्य उ० १। १०

" हे प्रतोता, हे उद्गाता तथा हे प्रतिहर्ता! जिन देवताओंका स्तवन तुम

करते हो, इन देवताओंके स्वरूपको न जानते हुए यदि तुम अपना कर्म करोगे, तो तुम्हारा मस्तक टूट जायगा।" इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञमें जो ऋत्विज होते हैं उनको उचित है कि वे यज्ञीय देवताओं का ठीक प्रकार स्वरूप विज्ञान प्राप्त करें और पश्चात् यज्ञका अनुष्ठान करें। उस देवतास्वरूप विज्ञान के बिना किया हुआ अनुष्ठान यज्ञकर्ताओंकी हानि करता है। यह यज्ञशास्त्रका तत्त्व है। यह तत्त्व आजकल कितने लोग जानते हैं? और यदि नहीं जानते तो इन के यज्ञ से निःसंदेह लाभ होगा इस विषयमें प्रमाण क्या है?

जगत्की शक्तिसे आत्मशक्तिका उद्धार।

योग साधनमें एक आत्मोन्नतिका यह विधि है कि जिसमें अपने शरीरके अंतर्गत शक्तियोंका संबंध बाह्य देवताओंके साथ देखना, जानना, और अनुभव करना होता है और बाह्य देवता शक्तिसे अपनी इंद्रिय शक्तिकी वृद्धि करनी होती है। यही विषय पूर्वोक्त छांदोग्य उपनिषद् के वचन में कहा है, यज्ञविधि में भी इसी ज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है। इस ज्ञानके विना किया हुआ यज्ञ सफल और सुफल नहीं हो सकता। इस प्रकारके देवता ज्ञानसे ज्ञानी बने हुए ऋत्विज जहां होते हैं वह यज्ञ पवित्रता करनेवाला होता है इस विषयमें उपनिषद् कहता है —

आसां देवतानामस्याश्चय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति।
भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥

--छांदोग्य उप० ४। १७। ८

"इन देवताओंके और त्रयीविद्याके वीर्य से यज्ञका दोष दूर होता है। जिस यज्ञमें ऐसा ज्ञानी ब्रह्मा होता है वह यज्ञ औषधरूप होता है।" अर्थात् जिस प्रकार औषधियां शरीरके दोषोंको दूर करती हैं, उसी प्रकार ऐसे ज्ञानी ऋत्विजोंसे किये हुए यज्ञ संपूर्ण दोषोंको दूर करते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यदि ऋत्विज इस प्रकार ज्ञानी नहीं होंगे तो वे यज्ञ विविध दोषोंसे दूषित होनेमें कोई शंकाही नहीं हो सकती। अतः इस विषयमें यज्ञकर्ता को सावधान होना चाहिये।

स्वशरीरमें यज्ञका अनुभव।

उपनिषत्कारोंके मतमें यह बाह्य यज्ञ केवल इसी लिये है कि आंतरिक यज्ञ की बात उपासकोंके मनमें स्थिर हो जाय। उपनिषत्कार सब पाठकोंका मन आंतरिक आत्मयज्ञ की ओर आकर्षित करना चाहते हैं देखिये—

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। तत्र सूर्योऽग्निः ... एक ऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति॥ ... दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कंदति ...दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति तत्र कोष्ठाग्निरिति। गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति। ...... प्रजननकर्मा। — प्राणाग्निहोत्र २

अपने शरीरमें यज्ञका परिवर्तन करता हूं। वहां सूर्याग्नि ...सिरमें रहता है...। ..आहवनीयाग्नि मुखमें रहता है। शारीराग्नि अन्न खाता है ...वह दक्षिणाग्नि हो कर हृदयमें रहता है उसीको कोष्ठाग्नि कहते हैं। ...यह गार्हपत्याग्नि बन कर नाभिमें रहता है...यह संतान उत्पत्ति करता है।"

पाठक विचार करें कि यह कथन कितना भावपूर्ण है! यज्ञके सच्चे स्वरूप का पता यहां लगता है। बाहेर के यज्ञ जिस कार्यके लिये किये जाते हैं वह कार्य यही है जो कि अपने शरीरमें हो रहा है। शरीरमें क्या होता है वह किसीको भी पता नहीं है, वह बतानेके लिये ही ये यज्ञ बाहर बनाये जाते हैं। अब आप बाह्य यज्ञ व आंतरिक यज्ञ का तत्त्व समझने के लिये यह चित्र (पृ. ९३ पर) देखिये—

इस चित्रसे आपको प्रचलित यज्ञ शाला की कल्पना होगी। और यही यज्ञ शाला अपने शरीरमें किस पद्धत्तिसे देखनी चाहिये इसका भी ज्ञान इसी चित्रसे आपको होगा। शरीरके पंचकोश और यज्ञ का क्या और कैसा संबंध है, यज्ञशालाके अग्नि अपने शरीर के अग्नियोंसे किस प्रकार संबंधित हैं, यह सब आपको इस चित्रसे पता लग जायगा। अब इसका विशेष विचार करनेके लिये पहिले उपनिषद् के वाक्य यहां दिये जाते हैं—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम्॥ अथ

यज्ञपुरुष, मुख्य आंतरिक यज्ञ और उस सत्य यज्ञका बाह्य स्वरूप।

यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं ...... ॥अथ यान्यष्टा-चत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयसवनं...॥छांदोग्य उ०३।१६।१

" मनुष्य ही एक यज्ञ है । उसकी आयु के पहिले चोवीस वर्ष प्रातः सवन, उसके पश्चात् के चवालीस वर्ष माध्यंदिन सवन और अंतिम अठतालीस वर्ष तृतीय किंवा सायंसवन होता है । "

जिस प्रकार दिनके १२ घंटों में प्रातःकालमें प्रातःसवन, माध्यंदिन के समय माध्यंदिनसवन और सायंकालमें सायंसवन किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की पूर्ण आयु यह एक पूर्णदिन मानकर ही उक्तविभाग माने गये हैं—

२४ वर्ष = प्रातःसवन = प्रातः काल
४४ " = मध्यंदिन" = मध्यदिन "
४८ " = सायं " = सायं "
११६ कुल आयु एकसौ सोलह वर्षकी हुई ।

मनुष्यकी पूर्ण आयु ११६ वर्षकी मानकर यह विभाग किया गया है। मनुष्य की पूर्ण आयु एक महायज्ञ है, यह कल्पना इस वर्णन में व्यक्त होगयी है, पाठक इसका योग्य विचार करें। तथा—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्॥ ---छांदोग्य उ०८।५।१

" जो यज्ञ कहा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है ।" अर्थात् (ब्रह्म) ज्ञान-प्राप्तिके लिये चर्य व्यवहार करनेका नाम ब्रह्मचर्य है और यही सच्चा यज्ञ है । यही आयुभर चलाया जा सकता है । बालपनसे अंतिम समयतक मनुष्य अपनी सब आयु ज्ञानार्जनमें लगा सकता है, और ब्रह्मचर्यका पालन करने द्वारा अपना उद्धार कर सकता है । यही आयु भरके यज्ञका संक्षेपसे तात्पर्य है । अब अपने शरीरमें यह यज्ञ कैसा देखना चाहिये इस विषयमें उपनिषद् के वचन देखिये—

वाग्वै यज्ञस्य होता । चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः । प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता । मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा । —बृहदारण्यक उ० ३ । १ । ३–६

" वाणी, चक्षु, प्राण और मन ये क्रमशः यज्ञके होता, अध्वर्यु, उद्गाता

तथा ब्रह्मा हैं ।"

यह सूचना दी है कि यज्ञ को अपने शरीरमें सच्चे रूपमें किस रीतिसे देखना और अनुभव करना । तथा इसी विषयमें देखिये —

शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति । ...... मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः । आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्मा, लोभादयः पशवो, धृतिर्दीक्षा संतोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं, केशा दर्भाः मुखमंतर्वेदिः... ॥ ५ ॥

गर्भोपनिषद् ।

यही बात विस्तारसे प्राणाग्निहोत्र उपनिषद् में कही है—

अस्य शारीरयज्ञस्य ... आत्मा यजमानः । बुद्धिः पत्नी । ... अहंकारोऽध्वर्युः। चित्तं होता। प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी। अपानः प्रतिप्रस्थाता। व्यानः प्रस्तोता । उदान उद्गाता । समानो मैत्रावरुणः । शरीरं वेदिः । नासिकोत्तरवेदिः । ... ओंकारो यूपः । आशा रशना । मनो रथः । कामः पशुः । केशा दर्भाः । बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि । कर्मेन्द्रियाणि हवींषि । अहिंसा इष्टयः । त्यागो दक्षिणा । अवभृथं मरणात् । सर्वा ह्यस्मिन्देवता शरीरेऽधि समाहिताः । —प्राणाग्निहोत्र. ४

यही वर्णन कुछ भेदसे महानारायणोपनिषद् में आया है—

यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्यावद्— ध्रियते सा दीक्षा, यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं ०॥ ८० ॥

—म. नारायणोपनिषद् ।

इन सब प्रमाणोंका तात्पर्य यह है कि—

१ यज्ञ = मनुष्य,

२ यज्ञ मंडप = मनुष्य शरीर,

३ यज्ञका समय = आयुकी समाप्ति तक

४ अग्नि- आहवनीयाग्नि = मुख,
गार्हपत्याग्नि =कोष्ठ, पेट,
दक्षिणाग्नि =हृदय,
५ यजमान =आत्मा,
६ यजमानपत्नी= बुद्धि ,श्रद्धा,
७ ब्रह्मा =मन,
८ अध्वर्यु = अहंकार, चक्षु,
९ होता = चित्त, वाक्,
१० ब्राह्मणाच्छंसी =प्राण,
११ प्रतिप्रस्थाता = अपान,
१२ प्रस्तोता= व्यान,
१३ उद्गाता = उदान,
१४ शमिता = दम, संयम,
१५ मैत्रावरुण = समान,
१६ पशु= लोभादि,काम, क्रोध,
१७ यज्ञपात्र = ज्ञानेंद्रियां,
१८हविर्द्रव्य=कर्मेंद्रियां,अन्नभक्ष्य
१९ इष्टि=अहिंसा,
२० सोमरस- जलपान,
२१ दर्भ = बल, केश,
२२ वेदि = हृदय,
२३ देवता = शरीरमें प्रत्यक्ष देवताएं रहती हैं ।

शेष पाठक जान सकते हैं । यह यज्ञ प्रत्यक्ष है । इसीमें देवताओंका प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभव है । जैसा कि पूर्व उपनिषद् वाक्यमें कहा है कि इस शरीरमें सब देवताएं रहती हैं, ठकि यही बात वेदमें भी कही है देखिये—

(१)सर्वा ह्यस्मिन्देवता शरीरेऽधिसमाहिता: ॥

—प्राणाग्नि होत्र उ० ४.

(२)तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ —अथर्व. ११।८।३२

(१)सब देवताएं इस शरीरमें रहीं हैं । (२) इसलिये इस पुरुषको जानने वाला ज्ञानी यह ब्रह्म है ऐसा कहता है, क्यों कि इसमें सब देवताएं उस प्रकार इकट्ठीं रहती हैं जैसी कि गौवें गोशाला में रहती हैं ।

सूर्य
दिशा
अश्विनी कुमार
अग्नि
पर्वत
आकाश
वायु
वायु
मरुत्
इंद्र
इंद्र
मरुत्
रुद्र
रुद्र
ब्रह्म
आत्मा
तेज
इंद्र
चंद्र
सरस्वती
गंगा
यमुना
सूर्य
आप
आप
पृथ्वी
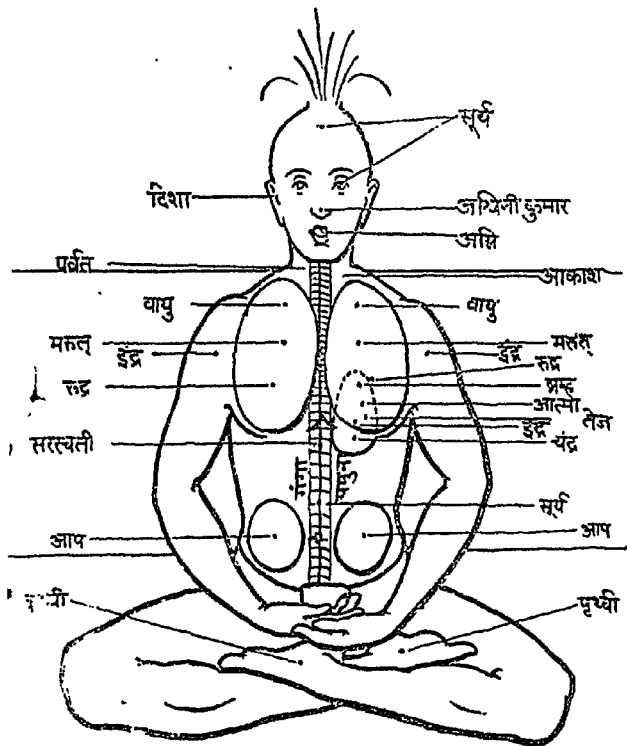
वेदका कथन और उपनिषद् का कथन कैसा एक ही है यह यहां प्रत्यक्ष देखिये। इस शरीररूपी यज्ञ मंडपमें इंद्रादि संपूर्ण देव रहते हैं, यहां अपना अपना हविर्भाग ले रहे हैं, और यहां शतसांवत्सरिक महायज्ञ अथवा सत्र शुरू है। जो यज्ञ ब्राह्मणादि ग्रंथों में वर्णित है वह यहां शरीरमें प्रत्यक्ष हो रहा है। अर्थात् शरीरमें जो चल रहा है वह यज्ञ प्रत्यक्ष है परंतु अज्ञानी उसका अनुभव कर नहीं सकता, इस लिये उस अज्ञानी को बताने के लिये यह बाह्य यज्ञ एक उदाहरणरूप है।

जिस प्रकार सूर्य चंद्रादि ग्रहोंका छोटासा नकशा अथवा नमूना पाठशालाओं में लडकों को दिखाते हैं, और समझाते हैं, कि ग्रहमालामें ग्रहोंकी गति कैसी हो रही है, ठीक उसी प्रकार इस शरीर में अध्यात्म शक्तियों द्वारा जो शतसांवत्सरिक महायज्ञ चल रहा है, परंतु जिस को अनाडी जन समझ नहीं सकते, उन को स्पष्ट करनेके लिये यह बाहेरका यज्ञ रचा है। इसका ठीक ठीक स्पष्टीकरण पूर्व स्थलमें दिये हुए चित्रसे ही हो जायगा। वहां उस चित्रमें ही बताया है कि शरीर के यज्ञका नकशाही कैसा इस यज्ञशालामें खींचा है।

मुख्य यज्ञ।

अर्थात् मुख्य यज्ञ शरीरके अंदर चल रहा है और यज्ञशाला का यज्ञ उसका नकशा है। यही यज्ञ के विषयमें मूल कल्पना है, यदी पाठकोंको यह ठीक प्रकार समझमें आजायगी, तो ही वे यज्ञका साध्य और यज्ञका तत्त्व समझ सकेंगे। वैदिक यज्ञका तत्त्व समझने के लिये इस मूल कल्पना का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

कई लोग ऐसा विपरीत ख्याल रखते हैं कि यह अध्यात्मयज्ञ की कल्पना वेदमंत्रोंमें कही नहीं है, परंतु यह उपनिषत्कारोंने बनायी है। यह बडा भारी और निर्मूल भ्रम है। क्यों कि जो सिद्धांत वेदके मंत्रों में कहे हैं वेही उपनिषदोंमें कहे हैं। शरीर रूप यज्ञ में संपूर्ण देवताओंका

प्रत्यक्ष दर्शन होनेका वर्णन जैसा पहिले बताया है वैसा ही सब अन्य विधान है। वेदमंत्रके सिद्धान्तों का ही आविष्कार स्पष्ट रूपसे उपनिषदोंने किया है, उसमें अपनी बात नहीं मिलायी है।

उपनिषदोंमें ब्राह्मणग्रंथोक्त कर्मकांड का विरोध इस लिये किया है कि कर्मकांडियोंको कर्मका वैदिक रहस्य ही ज्ञात नहीं था किंवा वे भूल चुके थे, इस लिये उपनिषत्कारोंने सच्चा वैदिक रहस्य बताकर सच्चा वैदिक यज्ञ कहां और किस रूपमें देखना चाहिये, यह स्पष्ट रीतिसे बताया है। अस्तु।

वैदिक यज्ञका तत्त्व।

वास्तवमें वैदिक यज्ञका तत्त्व जैसा वेदके मंत्रोंमें था वैसा ही ब्राह्मण ग्रंथोंमें रहा नहीं है। वैदिक मंत्रोंमें कहे यज्ञ कर्म की अपेक्षा ब्राह्मणग्रंथमें कर्म बहुत ही बढ गया था। और कई बातें उस में अनावश्यक भी घुस गयीं थीं। ब्राह्मण ग्रंथोंके समयके कर्मकांडीलोग ऐसा समझने लगे थे, कि वेद मंत्र केवल कर्मकांडके विनियोग के लिये ही हैं, उनका अन्य कोई भी उपयोग नहीं है, यह भाव श्रौतसूत्रादिकोंमें भी पाया जाता है। परंतु यह भाव गलत् है, और यही गलती उपनिषत्कारोंने स्पष्ट रूपसे बतायी है। और वास्तविक वैदिक अध्यात्म यज्ञ स्वरूप भी उन्हों ने ही प्रकाशित किया है।

यहांतक गीता और उपनिषदोंमें जो यज्ञ का स्वरूप बताया है वह संक्षेपसे इस लेखमें बताया है। अब इस के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथोंमें जो यज्ञ का रूप वर्णन किया है वह अगले लेख में बतायेंगे।

वैदिक धर्मका प्राण ही यज्ञ है। यज्ञ हटा दिया जाय, तो वैदिक धर्म में कोई सत्त्वही नहीं रहता; इतना महत्त्व यज्ञसंस्थाका वैदिक धर्म में है। परंतु जिस प्रकार वैदिक धर्म की अन्यान्य संस्थाएं लुप्त अथवा कलुषित हुईं, उसी प्रकार आर्यों की यज्ञ संस्था भी प्रायः लुप्त और जो अवशिष्ट है वह कलुषित हो चुकी है। इसलिये इस यज्ञसंस्थाका मूल शुद्ध स्वरूप देखनेका यत्न करना चाहिये। वेदका अन्वेषण, तथा प्राचीन परंपरा का अभ्यास करनेसे ही इस यज्ञ संस्थाका पता इस समय भी लगना संभव है। यह कार्य एक दो दिन के अल्प प्रयत्नसे होना संभव नहीं है, प्रत्युत सैंकडों मनुष्य विभिन्न केंद्रों में बीसियों वर्षोंतक ठीक मार्गसे प्रयत्न करेंगे, तभी यह कार्य होना संभव है। इसलिये इस दृष्टिसे थोडासा प्रयत्न इस लेखमें करने का विचार है।

संस्कृतमें सामान्यतः और वेदमें विशेषतः पदार्थों के नाम विशेष महत्व रखते हैं, मानो प्रत्येक नाम उस उस पदार्थ की व्याख्या ही है जिसका कि वह वाचक है। यद्यपि प्रत्येक और हरएक शब्द के विषय में हम यह न कह सकें, तो भी बहुत ही शब्दोंके विषयमें उक्त नियम की यथार्थता इस समयमें भी हम देख सकते हैं। इसी नियम के अनुसार आज यज्ञ के विविध नामों का विचार करना है।

यज्ञका गूढ तत्त्व ।

निघण्टु (३ । १७) में यज्ञवाचक १५ नाम दिये हैं, इनके अर्थ और उनके आशय प्रथम देखिये—

(१) यज्ञ ।

सबसे प्रथम " यज्ञ " शब्द हमारे सन्मुख आता है। इसका अर्थ सुप्रसिद्ध है– " देव पूजा, संगतिकरण और दान " ये इसके मूल अर्थ हैं। देवोंका सत्कार, संगति करण अर्थात् संघटन और परोपकार अर्थात् दूसरोंकी सहायता करने के लिये आत्मसमर्पण करना ये तीन भाव इसमें मुख्य हैं।

विचार करनेसे पता लगजायगा कि ये तीन भाव ही मानवी उन्नतिके महामंत्र हैं। (१) सत्कार करने योग्य जो हैं उनका सत्कार करना, (२) आपसमें संगठनका बल बढाकर अपनी संघशक्ति का उत्कर्ष करना, और (३) जो दीन दुर्बल हैं, उनकी उन्नति के लिये आत्मसमर्पण करना ये तीन भाव ऐसे हैं, कि जिनके पालन करनेमें हरएक समाज तथा संघ निश्चय से उन्नत हो सकता है।

देवपूजा करनेका प्रश्न जहां उत्पन्न होता है; वहां देव कौन हैं, देवोंका स्वरूप क्या है, इस प्रश्नका विचार अवश्य करना पडता है। यज्ञके अर्थमें भी जो 'देवपूजा' है, वह किनकी पूजा है, इसका यहां विचार अवश्य करना चाहिये।

देव शब्द भाषामें किंवा संस्कृत भाषामें भी प्रसिद्ध है। ब्राह्मणोंको " भूदेव " कहते ही हैं। क्षत्रियों को " देव " शब्दका प्रयोग नाटकादिकोंमें भी हुआ है। वैश्य धनदेव सुप्रसिद्ध हैं और कर्मदेव शूद्र ही हैं। ये देवोंके चार भेद आजकलके नहीं हैं अनादिसिद्ध हैं—

ब्राह्मण — भूदेव, ज्ञानदेव ।
क्षत्रिय — राष्ट्रदेव, शौर्यदेव ।
वैश्य — धनदेव ।
शूद्र — कर्म देव ।

ज्ञान के मुख्य होनेके कारण ब्राह्मणों को भूदेव कहते हैं, अर्थात् संपूर्ण भूमंडलपर उनका देवत्व है, यह निर्विवाद है । राजा का मान उसके नीचे है क्यों कि राजा का संमान केवल उसके राज्यमें ही होता है, कवि भी कहते हैं—

स्वदेशे पूज्यते राजा
विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

अपने देशमें सम्राट् की पूजा होती है परंतु विद्वान की सर्व भूमंडकभर में पूजा होती है ।

धन का मान तीसरे दर्जेपर है, इसी लिये व्यवहार में भी राजा की अपेक्षा धनीका मान कम गिना जाता है । द्विजों में ये तीन देव हैं । इसके अतिरिक्त तीनों द्विजों के लिये सामान्य सहायक चतुर्थ जो हैं उनको "कर्मदेव" कहते हैं। आर्योंकी अवनतिके सारस्वतमें इन कर्म देवोंको घृणा की दृष्टिसे देखने का प्रारंभ हुआ, तथापि उन्नतिके सारस्वतमें इन शूद्रोंकी भी योग्यता बडी तथा नमस्कारार्ह थी ।

अस्तु, ये चार प्रकारके देव हैं । जिनकी पूजा देवपूजा कहलाती है । इन चारों में से एक एक प्रतिनिधि और स्त्रीजातीका एक प्रतिनिधि मिलकर पंचायतन पूजा होती है । इसी कारण पंचायतन पूजामें स्त्री भी संमिलित होगई है । अस्तु । इन चार वर्गों में जो पूजाके लिये योग्य हैं उनका सत्कार करना यज्ञकी देवपूजा है । इस विषयका विस्तार बहुत हो सकता है, परंतु यहां संक्षेपसे ही देखना है इसलिये यहां इतनाही पर्याप्त है ।

" संगति करण " का अर्थ " संगठन " स्पष्ट ही है, समाज तथा राष्ट्रका जीवित ही संगतिकरण के विना नहीं हो सकता । जातीयताका यही प्राण है ।

दान का अर्थ सत्पात्र के लिये अर्पण करना होता है । आजकल इसका भी विपरीत अर्थ हुआ है जो कोई हो उसको अर्पण करनेका नाम दान नहीं इस प्रकारके अविचार से किया हुआ दान तामस दान होने के कारण दाता की अधोगति करता है और लेनेवालेको भी गिरा देता है ।

देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थात् योग्य सत्कारार्होंका सत्कार, संगठन और सत्पात्र में अर्पण ये यज्ञके तीन मुख्य लक्षण हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि, ये लक्षण जिस यज्ञमें घटते हैं, वह किस प्रकार राष्ट्रका हित साधन कर सकता है। यज्ञका मुख्य ध्येय इसी प्रकार सार्वजनिक अथवा सार्वराष्ट्रीय होता है।

(२) वेन ।

यज्ञवाचक नामोंमें " वेन " शब्द दूसरा है। " गति, ज्ञान, चिंतन, निशामन अर्थात् दर्शन, वाद्यवादन तथा स्वीकार " है। इसके अतिरिक्त इसके अर्थ " इच्छा, पूजा, सत्कार, मेधा, " आदि भी हैं। गति अर्थात् हल चल करना, ज्ञान बढाना, चिंतन अर्थात् सोचना किंवा विचार शक्तिकी जागृति करनी, निशामन अर्थात् दर्शन शक्तिका उत्कर्ष करना, दूर दृष्टिका विकास करना, वाद्यवादन अर्थात् गायनवादन आदिका उत्कर्ष करना और जो अच्छी बातें हैं, जो उन्नतिके साधन हैं, उनका स्वीकार करना। इच्छा शक्ति, मेधाशक्ति आदि शक्तियोंका उत्कर्ष करना। ये सब कार्य वेन नामक यज्ञके अंतर्भूत होते हैं।

पाठक यहां देखते जांय कि पहिले " यज्ञ " की अपेक्षा इस " वेन " के कार्यक्षेत्र में किस रूपमें भेद है। यद्यपि यज्ञ वेन आदि शब्द यज्ञके ही वाचक हैं, तथापि हरएक शब्द से बताया हुआ कार्य क्षेत्र भिन्न भिन्न है।

साधारणतः समझा जाता है, कि सब शब्द एक ही भाव बताते हैं, परंतु वास्तवमें वैसा नहीं है। प्रत्येक नाम विभिन्न यज्ञसंस्थाका वाचक है। यहां पाठकोंको ध्यानमें धरना चाहिए कि, जिस प्रकार " कर्म " शब्द सामान्य है बैठने उठने से लेकर राष्ट्रवर्धनकारी अश्वमेध पर्यंत सबही यद्यपि कर्म हैं, तथापि आंतरिक दृष्टिसे देखा जाय, तो प्रत्येक कर्म भिन्न भिन्न ही है; उसी प्रकार यज्ञ और वेन ये तथा अन्य यज्ञवाचक शब्द यद्यपि यज्ञवाचक हैं, तथापि सब का तात्पर्य, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र एक ही नहीं है। इसकी भिन्नता इन शब्दोंके अर्थ के विज्ञान से ही विशद हो सकती है।

पहिला " यज्ञ " शब्द सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नतिका भाव विशेष कर बताता है और यह " वेन " शब्द " ज्ञान, मेधा, चिंतन आदि आंतरिक विकास " की सूचना दे रहा है। पाठक यह उद्देश्यका भेद यहां देखें और यज्ञ वाचक दोनों शब्दों से व्यक्त होने वाले कार्य क्षेत्र का विचार अपने मनमें ठीक प्रकार स्थिर करें। ऐसा करनेसेही आगेका विचार समझनेके लिये सुगमता हो सकती है।

(३) अध्वर।

यज्ञवाचक नामोंमें " अध्वर " शब्द विशेष ही महत्व रखता है, इसका ठीक अर्थ " अहिंसा है। ध्वर शब्दका अर्थ " कुटिलता, हिंसा, नाश" आदि-प्रकार का है और उसका निषेधक शब्द " अध्वर " है। इस लिये इसका अर्थ " अकुटिल, सीधा, सरल, अहिंसामय, विनाशरहित ऐसा होता है।

इसके अतिरिक्त और भी एक महत्त्व पूर्ण अर्थ " अध्वर " शब्दका है। " अध्वन्" शब्द मार्गवाचक है और " र " शब्द " देना, बताना" बता रहा है अर्थात् अध्वर शब्दका अर्थ इस व्युत्पत्तिसे " मार्ग दर्शक, सत्यमार्ग को बताने वाला" है।

जिसमें कुटिलता नहीं है, जो सीधा और सरल है, तथा जिसमें हिंसा नहीं है, वही ठीक मार्ग दर्शक होसकता है इस प्रकार दोनों अर्थोंकी संगतिभी हो सकती है।

संपूर्ण यज्ञकर्म कैसा होना चाहिये, उसके कार्य कर्ता किस मनोभावनासे युक्त होने चाहिये और कुल कर्मका उद्देश्य क्या होना चाहिये, इसका निश्चय इस शब्दके मननसे होसकता है।

संपूर्ण यज्ञकर्म पूर्ण अहिंसामय होना चाहिये, किसिकोभी कायिक वाचिक अथवा मानासिक कष्ट न पहुंचे, यह उद्देश्य यज्ञकर्ताका सदा होना चाहिये। मनके सब कुटिल भाव दूर रखने का यत्न होना चाहिये, तथा सबका कल्याण

बढे और किसीका नाश न हो इस विषयका विचार यज्ञकर्ताके मनमें सदा जागना चाहिये।

" सरलता, सीधापन, टेढेपनका अभाव, अहिंसा येही सद्गुण हैं, जो अध्वरसे बताये जाते हैं। तथा जनताको सत्य मार्ग बतानेवाला यह कर्म होना चाहिये, अर्थात् इस यज्ञ कर्मसे जनता स्वयं सन्मार्गपर चलती रहे, यह इस कर्मका उद्देश्य है।

पहिले " यज्ञ" शब्दने राजकीय तथा सामाजिक उन्नतिके कार्य क्षेत्रका बोध किया है। दूसरे यज्ञवाचक " वेन" शब्दने वैयक्तिक तथा सार्वजनिक ज्ञान और मेधा शक्तिकी उन्नति की सूचना दी है और यज्ञवाचक इस तीसरे " अध्वर" शब्दने अहिंसामय सब कर्म करनेका उपदेश दिया है। पाठक इन बोधों का विचार करें और यज्ञ वाचक शब्दसे जो कार्यक्षेत्र सन्मुख आता है उसको विचार की आंखसे देखें।

(४) मेध।

वह मेध शब्द भी यज्ञवाचक है। इसके मुख्य तीन अर्थ हैं, मेधाबुद्धिका संवर्धन, संगतिकरण अथवा संगठन और हिंसा। " मेधृ हिंसनयोः संगमे च " ये इसके धात्वर्थ हैं। मेधाबुद्धिका संवर्धन और संगम, मिलाप अथवा संगठन ये अर्थ ऐसे हैं कि जिनके विषयमें किसीकोभी कोई संदेह नहीं हो सकता। क्यों कि ये दोनों भाव यज्ञवाचक पूर्व शब्दोंमें आये ही है। "वेन" शब्द के अर्थमें जो ज्ञान वर्धन का भाव है, वही इसमें किंचित् रूपान्तरसे विद्यमान है। संगठनका भाव भी यज्ञ शब्दके समान ही इसमें है।

ये दोनों भावोंकी इसमें विद्यमानता है, इसीलिये हम कह सकते हैं, कि मेधमें " यज्ञ और वेन " इन दोनों यज्ञवाचक शब्दोंका भाव इकट्ठा हुआ है। यज्ञका संगतिकरण किंवा संगठन तथा वेन का ज्ञान संवर्धन ये दोनों भाव मेध में इकट्ठे हुए हैं।

पहिले बतायाही है कि "यज्ञ" शब्दसे उस कर्मका बोध होता है कि जो सार्व राष्ट्रीय है और " वेन" शब्दसे उस कर्मका विशेषकर बोध होता है कि जो वैयाक्तिक होता है। ये दोनोंप्रकार के कर्म " मेध " शब्दसे बोधित होते हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि मेध शब्दसे जिस यज्ञकर्म का बोध होता है वह यज्ञकर्म वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनों भावोंसे युक्त है। अर्थात् मेधसे जैसा सार्वजानिक राष्ट्रीय हित सिद्ध होगा वैसा ही वैयक्तिक शक्तिसंवर्धन भी होगा।

नरमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजमेध ये यज्ञ इस मेध के अंतर्गत हैं। उक्त शब्दार्थ लेनेसे इन यज्ञोंका भाव समझमें आसकता है। नरमेध वह कर्म है कि जिससे मनुष्य की वैयक्तिक और सार्वजनिक सच्ची उन्नति हो सकती है। (" नरमेध " का वर्णन करनेवाले स्वतंत्र पुस्तक यजुर्वेद स्वाध्यायमें स्वा० मंडल द्वारा प्रसिद्ध हुआ है। पाठक इसका वर्णन वहीं देखें। इस पुस्तकमें यजु० अ० ३० की व्याख्या ही है।)

" अश्वमेध " को " राष्ट्रं वा अश्वमेधः" ऐसे वचन कह कर स्वयं शतपथब्राह्मणकारने ही यह यज्ञकर्म राष्ट्रसंवर्धन कारक है ऐसा कहा है सम्राट् बननेवाला राजा एक अश्व छोडता है और संपूर्ण राजा महाराजाओंको युद्धको आह्वान करता है। युद्ध के लिये जो आते हैं उनके साथ युद्ध करके उनका पराभव करता है, इस प्रकार जो सम्राट् सर्वोपरि शक्तिमान होता है वह भूमंडलका शासक होता है। अश्वमेध की यह पद्धति ही इसकी राष्ट्रियता सिद्ध करती है।

गोमेध की पद्धति प्रायः लुप्त होगई है इस लिये उसका निरीक्षण करके यहां कुछ बताना इस समय असंभव है। तथापि नरमेध और अश्वमेध ये दो यज्ञ जैसे राष्ट्रीय स्वरूपके दिखाई देते हैं उसी प्रकार यह भी राष्ट्रीय स्वरूपका ही होना संभव है। गोरक्षा, गोसंवर्धन, भूमि तथा कृषिसंवर्धन आदि भाव भी इसमें होने की संभावना बहुत है।

शेष रहा जो अजमेध, वह धान्य हवन का महायज्ञ है, इस विषयके

प्रमाण इसी लेखमालाके गत अंकमें दिये ही हैं। अज शब्दका अर्थ धान्य है, चावल और जौं है। इनके पुरोडाशका तथा घृतादिका हवन करके यह यज्ञ करनेका विधान इस समय भी वैष्णव संप्रदायमें प्रचलित है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

पितृमेध, गृहमेध आदि अनेक प्रकारके मेध हैं और इन सबमें मेधावृद्धि, संगठन आदि भाव हैं। इस में जो " हिंसा " का अर्थ है, वह यज्ञमें पशुहिंसाका भाव नहीं बताता है, प्रत्युत उक्त कार्योंके विरोधकों की हिंसा करनी चाहिये, इतनाही बता रहा है।

मेध शब्दसे जो पुरुषार्थ के महत्कर्म पूर्व स्थलमें बताये हैं, उनमें राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक अभ्युदयका भाव स्पष्ट है, इसलिये आवश्यकता पड़ने पर इन कार्योंके शत्रुओंकी हिंसा करनेकी सूचना यह शब्द दे रहा है। जिस समय यज्ञसंस्था जीवित और जाग्रत थी उससमय का भाव यह शब्द बता रहा है। परंतु यज्ञसंस्थाका नाश होने के पश्चात् हरएक धर्मकृत्यमें जिस प्रकार अंधा हुआ है, उसी प्रकार यज्ञ संस्थामें भी दिखाई दिया तो कोई आश्चर्य नहीं है।

तात्पर्य आजकल अश्वमेधादिमें अश्वमांसकी आहुति देनेकी कल्पना सन्मुख आती है परंतु प्रारंभ में अश्वमेधमें जो हिंसा होती थी वह साम्राज्यके शत्रुओंकी ही होती थी। इतना भेद ध्यानमें धरना चाहिये। राष्ट्र रक्षकोंका रक्षण और राष्ट्र विध्वंसकोंकी हिंसा यह भाव मेधमें स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्यान्य मेधोंके विषयमें जानना चाहिये।

यहां इस बातका ख्याल अवश्य मनमें रखना चाहिये, वह ख्याल यह है कि, यज्ञमें चतुर्विध हवन सामग्री, घृत, समिधा आदिकोंका हवन अभीष्ट ही था। परंतु जैसा अश्वमेधमें साम्राज्य स्थापना मुख्य है उसी प्रकार पितृमेधमें पितृसत्कार प्रमुख स्थान रखता है। तात्पर्य सब मेधों और यज्ञों में हवन करना एक कार्य अवश्य था ही, परंतु उस उस यज्ञका विशेष अन्य कर्म से ही जाना जाता था।

इस प्रकार मेध नामक यज्ञोंमें राष्ट्रसंवर्धनादि भावों के संबंधमें हिंसा कैसी संमिलित हुई यह बात देखने योग्य है। और यह हिंसा युद्धादि प्रसंगों के कारण आवश्यक ही थी। इतनाही नहीं प्रत्युत अपरिहार्य सी थी।

पहिले "यज्ञ" शब्दमें राष्ट्रोन्नतिका भाव है, द्वितीय "वेन" शब्दमें वैयक्तिक उन्नतिकी सूचना है, तृतीय "अध्वर" शब्दमें अहिंसामार्ग बताया है। अर्थात् अहिंसाके मार्गसे ही वैयक्तिक आत्मोन्नति और सामुदायिक राष्ट्रोन्नतिका साधन करना चाहिये। परंतु यहां प्रश्न होता है कि अहिंसा पूर्ण प्रेममय मार्गमें जिनका वशीकरण न हो जाय. और वे यदि प्रबल शत्रुता ही करने लगें तो क्या किया जाय? ऐसी अवस्थामें "मेध" शब्द आकर बता रहा है कि ऐसी अवस्थामें युद्धादि अपरिहार्यही हैं इसलिये वह करना चाहिये और आवश्यक हिंसा करनी चाहिये।

(५) विदथ।

इस प्रकार शत्रुओंको दूर करनेके मेध आदि यज्ञकर्म करनेके पश्चात् हमारे सन्मुख यज्ञवाचक "विदथ" शब्द आता है, इसका मूल धात्वर्थ "ज्ञान, सत्ता (अस्तित्व) लाभ, विचार, चेतना" आदि है। "विदथ" शब्दके कोशोंमें अर्थ "ज्ञानी, साधु, त्यागी किंवा संन्यासी, ज्ञान और युद्ध" इतने हैं। मूल धात्वर्थ और ये प्रसिद्ध अर्थ इनका कोई विरोध नहीं है।

जो युध्द का भाव हमने मेध शब्दमें पूर्वस्थल में बताया है, वही इस शब्दके अर्थ में भी है। इसके अतिरिक्त मेध के द्वारा राष्ट्रकी सुस्थिति होते ही और शत्रु दूर होते ही, अपने राष्ट्रका ज्ञान बढाना, अपना राष्ट्रीय अस्तित्व स्थिर रखनेके लिये प्रयत्न करना अपने राष्ट्रका लाभ करनेका उपाय सोचना और इस प्रयत्न के लिये संपूर्ण राष्ट्रमें चेतनता उत्पन्न करना आदि कार्य इस "विदथ" शब्द द्वारा सूचित होते हैं। ये सब कार्य अंदरूनी सुधार के हैं। राष्ट्रकी आंतरिक सुधारणा करनेसे ही वह राष्ट्र सदाके लिये सुखी उन्नत तथा उच्च रह सकता है। इस लिये बाह्य शत्रु दूर करने

के साथ ही आंतरिक सुधार के लिये प्रयत्न करने का विचार जो इस शब्द द्वारा वेदने बताया है, वह हरएक मनुष्य को विचार करके देखना आवश्यक है।

(६) नार्यः ।

इसके पश्चात् " नार्यः " शब्द यज्ञवाचक नामों में निघण्टुमें लिखा है। "नृ– नये" इससे यह शब्द बनता है। नीति, राजनीति, ये इसके धात्वर्थ हैं। वैयक्तिक नीति साधारणतया नीति शब्दसे जानी जाती है जिसमें विधि-निषेध, शीलसंवर्धन तथा धर्माचार का संबंध है। दूसरी सामुदायिक नीति जिसका एक अंग राजनीति है। जो समाज अथवा राष्ट्र इन दोनों नीतियोंमें प्रवीण अथवा पूर्ण होता है वही परम उच्चताके शिखरपर पहुंचता है।

इस प्रकार ये यज्ञवाचक छह शब्द मनुष्यों के लिये वैयक्तिक उन्नति का संपूर्ण ज्ञान और विज्ञान सूचित कर रहे हैं। जो पाठक इन शब्दोंका विशेष विचार करेंगे उनको इन शब्दोंके अंतर्गत ज्ञानका पता स्वयं लगे-गा और यज्ञके सार्वराष्ट्रीय महत्वका भी पता लग जायगा।

इन शब्दोंके विचार से ही आर्यों की वैदिक यज्ञ संस्था की राष्ट्रीयता स्वयं प्रकाशित हो सकती है।

(७) सवनम् ।

" सु—प्रसवैश्वर्ययोः" इस धातुसे यह 'सवन' शब्द बनता है। प्रस-व, उत्पत्ति, प्रेरणा, ऐश्वर्य, प्रभुत्व ये इसके धात्वर्थ हैं। ये धात्वर्थ यद्यपि सामान्य भाव बता रहे हैं, तथापि इसका विशेष भाव जो यज्ञमें प्रचलित है, वह " पेय रस " वाचक ही है। यज्ञमें तीन सवन होते हैं, प्रातः, मध्यं दिन और सायं ये तीन नाम इन तीन सवनों के हैं। सोम औषधिका रस निकालना और उसका पेय बनाना यही इनमें मुख्य भाग है।

इन यज्ञोंमें "वाज पेय" एक यज्ञ है, जिनके करनेसे यजमान को "वाज पेयी" कहते हैं। आज कल नामके वाजपेयी किंवा बाजपेयी पंडित बहुत हैं

परंतु किन कारणोंसे उनका यह नाम बना यह भी उनमेंसे बहुतों को पता नहीं होगा। यह अवस्था इस समयकी है क्यों कि यज्ञ संस्थाका इतना लोप हो चुका है।

" वाज-पेय " शब्दका अर्थ (वाज) अन्न और (पेयं) पेय, रसपान है " अन्नपान " यही इसका अर्थ है। पाठक यहां देखें कि आर्यों की वैदिक यज्ञ संस्थामें "खान-पान" नामक भी एक यज्ञ है! असलमें देखा जाय, तो हरएक यज्ञ में खान पान होता ही है, फिर इसी यज्ञका नाम (वाज-पेय) "खान पान" क्यों रखा गया ? यह प्रश्न विचारणीय ही है।

खान पान के संबंध का विचार इसमें विशेष होनेके कारण इस यज्ञका यह नाम रखा गया है। " वाज" शब्दका अर्थ शारीरिक बल और मानसिक शक्ति, भी है। अतः वाजपेयमें ऐसे अन्न और पेय का विचार होना स्वाभाविक है, कि जिसका शारीरिक और मानसिक शक्तिविकास के साथ घनिष्ठ संबंध हो।

यह जैसा "वाजपेय" यज्ञमें है वैसा ही इस "सवन" में सोमरस का संबंध है और सोमरस ऐसी चीज है जो जीवनदात्री वेदशास्त्रमें सुप्रसिद्ध है।

पाठक यहां देखें कि आर्योंकी यज्ञसंस्था में खान पान का विचार भी कितना महत्व रखता है। राष्ट्रका और संघका हित उसी समय हो सकता है कि जिस समय राष्ट्रमें खान पान का ठीक प्रबंध हो और ज्ञान संवर्धनकाभी प्रबंध उत्तम हो।

पिछले शब्दों द्वारा वर्णित अवस्था सिद्ध होते ही खानपान के प्रबंधकी सूचना यह शब्द यहां देरहा है। कितनी दृष्टिसे यज्ञका विषय विचार करना चाहिए और कितने महत्वपूर्ण विषय उसके अंदर हैं, इसकी कल्पना पाठकों को यहां हो सकती है।

(८) होत्रा।

(९) इष्टि।

ये यज्ञवाचक दो शब्द हैं, ये शब्द हवन के वाचक प्रसिद्ध हैं। यज्ञका एक प्रधान अंग हवन है हि।

निघंटु १ । ११ में "होत्रा" शब्द का अर्थ "वाणी" दिया है, इससे वाक् शक्ति के विकास का भी इससे संबंध अवश्य आता है। इसी कारण ऐतरेय ब्राह्मण ५ । ४ में "वाग्वै यज्ञः" कहा है।

(१०) देवताता।

यह शब्द यज्ञवाचक है, देवत्वका (ताता) फैलाव करनेका भाव इसमें है।

पूर्व ९ शब्दों द्वारा यज्ञ कर्म करनेसे जो देवत्व प्राप्त होता है, उसका संपूर्ण जगत् में फैलाव करना हरएक आर्य का धर्म ही है। यह देवत्व प्रचारका सूचक कर्म इस शब्द द्वारा बताया है। स्वयं देव बनना और जगत् में देवत्वका प्रचार करना, स्वयं उच्च बनना और दूसरोंको उच्च बनानेका यत्न करना, स्वयं धार्मिक बनकर दूसरोंको धार्मिक बनानेके लिये धर्म प्रचारक बनना, इत्यादि सब भाव इस शब्द द्वारा सूचित हो रहे हैं। पाठक इस लिये इस शब्दका विचार अवश्य करें।

(११) मख।

"मह" धातुका अर्थ "पूजा और वृद्धि" है और यही धात्वर्थ मख शब्दका है, इस कारण "पूजा और वृद्धि" का वाचक मख शब्द माना जाता है।

जो राष्ट्र पूर्व दस शब्दों द्वारा वर्णित कर्तव्य करेगा, उसकी संपूर्ण जगत् में पूजा होगी, इसमें संदेहही नहीं। तथापि यह शब्द दूसरोंसे पूजा स्वीकार करनेका भाव नहीं बताता है, परंतु स्वयं इतनी अवस्था प्राप्त होनेपर भी सत्कार के लिये जो योग्य होंगे, उनका सत्कार करना और अपनी सब से वृद्धि करनेका परम पुरुषार्थ करना, येही कर्तव्य सूचित करता है। अन्यथा उच्च शिखर पर पहुंचे हुए मनुष्यका भी पतन होना संभव है। अथवा उच्च शिखर पर पहुंचे हुए मनुष्य का ही पतन अधिक जोर से होता है और इसीलिये उच्च अवस्था प्राप्त होनेपर अधिक नम्रता और अधिक पुरुषार्थ का अवलंबन होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

(१२) विष्णु

यह यज्ञवाचक शब्द है। इसका अर्थ व्यापक भाव बताता है। संकुचित भावका अभाव इस में है। यज्ञ वाचक " विष्णु " शब्द कर्मवाचकही है इसलिये " व्यापक कर्म" ऐसा इसका अर्थ है। व्यापक कर्मका तात्पर्य "वह कर्म कि जिस का परिणाम संपूर्ण जनतापर होता है" इसके विरुद्ध संकुचित कर्म है, इसका परिणाम व्यक्ति तकही रहता है ।

यह यज्ञवाचक शब्द बता रहा है कि, यज्ञमें सार्वजनिक व्यापक दृष्टि अवश्य धारण करनी चाहिये। संकुचित दृष्टिका त्याग और व्यापक दृष्टिका उदय इस प्रकार यज्ञ कर रहा है।

इस प्रसंगमें संकुचित परिणाम वाले कर्म और व्यापक परिणाम वाले कर्मोंका विचार पाठक करें और व्यापक कर्मोंसे राष्ट्रहित कैसा होता है और संकुचित कर्मोंसे कैसा उसका बिगाड होता है, यह अवश्य देखें। यह देखनेसे ही पाठकोंको विष्णु शब्दसे बतानेवाले यज्ञ के भावका स्पष्ट ज्ञान होगा और यज्ञकी सार्वजनिकता भी ठीक प्रकार ध्यानमें आजायगी।

(१३) इंदु.

अब यज्ञवाचक " इंदु" शब्द देखना है। इंदु सोम अथवा चंद्र यह शांतिका सूचक सब जानते ही हैं। " उंदी-क्लेदने "धातुसे इंदु शब्द बनता हैं। इसलिये इसका मूल अर्थ गीला करने वाला होता है। इसका भी तात्पर्य शांती करने वाला है।

इंदु चंद्रका नाम है और यही " कलानिधि " भी है। कलाओंका निधि जो होता है उसी को कला निधि कहते हैं। चौदह विद्याएं और चौसठ कलाएं होती हैं। चौसठ कला ओं अथवा हुनरों का जो आधिपति वही "कलानिधि, चंद्र इंदु किंवा सोम " है।

पाठक पूछेंगे कि कलाओं का यज्ञके साथ क्या संबंध है? उत्तरमें निवेदन है कि यज्ञके साथ संपूर्ण कलाओं और हुनरों का संबंध है। शतपथ ब्राह्मणमें यज्ञ प्रकरणमें " शिल्प " का वर्णन इस स्थानपर देखने योग्य

है। "शिल्प, आसुरी माया" आदि जो यज्ञमें प्रकरण हैं, उनको देखनेसे स्पष्ट पता लगता है कि यज्ञके कारण ही आर्यों में शिल्पोंका विकास हुआ था।

द्विजोंकी सब विद्याएं और सब कलाए यज्ञ में प्रयुक्त होती थीं और यह कलाओं के साथ होने वाला यज्ञ सर्वत्र राष्ट्रमें सुख और शांति स्थापन करनेवाला होता था। इस समयतक बताये संपूर्ण यज्ञवाचक शब्दों का परस्पर संबंध देखनेसे पाठकों को स्वयं पता लग सकता है कि इस यज्ञसंस्था के कारण ही आर्योंके राज्यमें सुख और शांति रहती थी और उसका विशेष कारण कलाओंकी उन्नति ही है। जिस प्रकार संपूर्ण कलाओंसे युक्त चंद्रमा शांति देनेवाला होता है, उसी प्रकार संपूर्ण कलाओं से युक्त राष्ट्र भी शांतिमय और सुखसमृद्धिसे परिपूर्ण हो सकता है। कलाओंका संबंध इस प्रकार सुखमय शांतिके साथ है।

इस शब्द द्वारा सूचित होता है, कि राष्ट्रमें कलाओंकी उन्नति करना भी यज्ञके साथ अत्यंत घनिष्ठ संबन्ध रखता है। देखिये यज्ञकी व्याप्ति कैसी है और उसका राष्ट्रहित के साथ कैसा दृढ संबंध है।

(१४) प्रजापति।

इसके पश्चात् यज्ञका नाम " प्रजा-पति " है। इसका दूसरा और कोई अर्थ ही नहीं है, प्रजाका पालन करनेका पूर्ण भाव इसमें है। जो भाव इस समय तकके शब्दोंमें हमने सूक्ष्मरूपसे देखा वही भाव इस शब्दमें स्पष्ट और व्यक्त रूपसे है।

राष्ट्रका पालन जनताकी रक्षा, राज्यकी पालना येही यज्ञके उद्देश्य हैं, इस विषयमें पूर्व शब्दोंके अर्थ बतानेके प्रसंग में जो हमने कहा है वही भाव इस शब्दसे पाठकों के मनमें दृढ होगया होगा।

यज्ञवाचक शब्दोंके भाव मनमें लेकर उनसे राष्ट्रकी पालना किस प्रकार हो सकती है यह पाठक अवश्य देखें और सोचें। ऐसा करनेसे पाठकों के मनमें यज्ञ संस्थासे जनताका हित कैसा होता है यह बात आ जायगी और यज्ञकी सर्वोपयोगिता उनके मनमें स्थिर हो जायगी।

(१५) घर्मः ।

यह यज्ञवाचक अंतिम शब्द है । "गर्मी" उष्णता ये इसके अर्थ हैं ।

दिलकी जो गर्मी होती है, हृदयकी जो उष्णता होती है, वह जबतक रहती है, तबतक ही मनुष्य जीवित रहता है । जिस समय हृदय की गर्मी हट जाती है उस समय इसको मुर्दा कहते हैं । यही अवस्था राष्ट्रकी है । राष्ट्रके अंदर जिस समयतक उच्च विचारोंकी गर्मी होती है उस समय तक ही राष्ट्र जीवित और जागृत रहता है । एकवार यह उच्च विचारों की गर्मी राष्ट्रसे हटगयी तो उसका जीवन रहना ही मुष्कील है । इस कारण राष्ट्र उन्नतिके लिये इस प्रकार की "गर्मी" किंवा "घर्म" अर्थात् उष्णता अवश्य चाहिये ।

यह गुण अंतमें इसलिये रखा है कि यह सर्वोपरि है । कोई इसे न भूले इसलिये इसको अंतमें कहा है । सब अन्य गुणोंके साथ इसका साहचर्य है इसलिये भी इसको सबके अंतमें कहा है । तात्पर्य यह है कि इस गुण की सार्वत्रिक आवश्यकता है । इस कारण इसका विशेष महत्व है ।

यहांतक यज्ञवाचक नामों के तात्पर्य का विचार हमने इस लेखमें किया है । इस विचार से पाठकों के मनमें यह बात अच्छी प्रकार आ जायगी कि यह वैदिक यज्ञसंस्था, जो कि आर्यों में चिरकालसे विद्यमान थी, वह राष्ट्रीय शक्तिका विकास करनेवाली थी, इस यज्ञसंस्थाके कारण आर्योंमें वैयक्तिक तथा सामुदायिक सद्गुणोंका परिपोष होता था ।

यदि यह बात सत्य है तो यज्ञ किस रीतिसे करने चाहियें और किस रीतिसे नहीं, इसका विचार करना यजमानको अत्यंत आवश्यक है । विशेषतः इस समय कि जिस समय संपूर्ण यज्ञ संस्थाका लोप हो चुका है, उस समय यज्ञ करना हो, तो विशेष ही सावधानी के साथ करना चाहिये अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानिकी ही संभावना विशेष होगी ।

इस समय जो लोग समझते हैं कि यज्ञ हमारा निजू और खानगी कार्य है, वे यदि केवल इन नामोंकाही विचार करेंगे, तो उनको यह यज्ञसंस्था

निजू किंवा खानगी नहीं हो सकती, यह हमेशा ही सार्वजनिक है, यह ज्ञात होगा ।

यज्ञकर्ताको इस बातका ज्ञान आवश्यक ही है । इस बातके ज्ञानके विनाही जो यज्ञ करनेके लिये प्रवृत्त होगा, उसका कर्म निष्फल होनेमें शंका ही क्या हो सकती है?

वैदिक कर्मकांड के लुप्त होनेकी कोई सीमा ही नहीं रही है । जो यज्ञ-संस्था शुद्ध राष्ट्रीय रक्षणकी संस्था थी, वही आज एक वैयक्तिक कर्मसंस्था बन गई है, इससे अधिक विद्याका लोप तो क्या हो सकता है ?

इसलिये जो यज्ञके कर्मकर्ता हैं, वे सबसे पहिले यज्ञसंस्थाके तत्त्वके साथ परिचित हों और पश्चात् यज्ञकर्म करने के लिये प्रवृत्त हों । तब उन-को सच्चा वैदिक कर्म सच्चे वैदिक मार्ग से करनेका ज्ञान होगा और उसके करनेसे जैसा एक व्यक्तिका तथा सर्व जनताका भी लाभ होगा ।

यज्ञविधिके विषयमें शास्त्रचर्चा करते हुए ऋषि प्रश्न करते हैं —

ऋषय ऊचुः—

कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत्प्रवर्तनम् । पूर्वे स्वायंभुवे सर्गे यथावत्प्रब्रवीहि नः ॥ १ ॥ अन्तर्हितायां संध्यायां सार्धं कृतयुगेन तु । कालाख्यायां प्रवृत्तायां प्राप्ते त्रेतायुगे तदा ॥ २ ॥ ओषधीषु च

जातासु प्रवृत्ते वृष्टिसर्जने । प्रतिष्ठितायां वार्तायां ग्रामेषु च पुरेषु च ॥ ३ ॥ वर्णाश्रमप्रतिष्ठानं कृत्वा मन्त्रैश्च तैः पुनः । संहितास्तु सुसंहृत्य कथं यज्ञः प्रवर्तितः ॥ ४ ॥

—मत्स्यपुराण अ० १४३

" ऋषि पूछने लगे —कि स्वायंभुव मनुके समय त्रेतायुगके प्रारंभ में यज्ञका प्रचार कैसा हुआ ? सत्ययुग के साथ उस युगका संधिकाल समाप्त होनेके पश्चात् त्रेतायुग प्रवृत्त होनेके समय कैसी यज्ञव्यवस्था शुरू होगई ? ग्राम, पुर, नगर आदि की रचना होनेके पश्चात्, कृषि आदिसे औषधियों की उत्पत्ति होनेके नंतर, जीवन साधन के नाना कामधंदे शुरू होनेके पीछे, वर्णाश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा होनेके पश्चात् उन वेदोक्त मंत्रों द्वारा यज्ञ का प्रचार किस ढंगसे हुआ ? यह सब हमें कहो । "

इस कथन का तात्पर्य यह है कि सत्य युगमें ग्राम नगर आदि बने नहीं थे, कृषिसे उत्पन्न होने वाले धान्य आदि बनने नहीं लगे थे, अर्थात् इस प्रकार कृषिका उत्कर्ष नहीं हुआ था, गृहादि निर्माण भी लोग नहीं करते थे, यह सत्ययुग कि जिस में लोग केवल जंगल में ही रहते थे और जो कुछ " अ - कृष्ट - पच्य " अर्थात कृषिसे उत्पन्न न हुआ हुआ ही कंदमूल, फलफूल आदि जो कुछ मिले खालेते थे, उस समय जो कुछ हुआ होगा वह बात और है; परंतु जिस समय ग्राम और गृह बने, कृषि की उन्नति होकर विविध धान्य बनने लगे तथा आश्रम और वर्ण की व्यवस्था ठीक बन गई तब त्रेतायुग में किस प्रकार यज्ञ संस्था प्रचलित होगई ? इस प्रश्नका उत्तर उक्त पुराणही दे रहा है-

एतच्छ्रुत्वाऽब्रवीत्सूतः श्रूयतां तत्प्रचोदितम् ।

सूत उवाच—

मन्त्रान्वै योजयित्वा तु इहामुत्र च कर्मसु । तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्तयत्प्रभुः ॥ ५ ॥ दैवतैः सह संहृत्य सर्वसाधनसंवृतः । तस्याश्वमेधे वितते समाजग्मुर्महर्षयः ॥ ६ ॥ यज्ञकर्मण्यवर्तन्त

कर्मण्यग्रे तथर्त्विजः। हूयमाने देवहोत्रे अग्नौ बहुविधं हविः ॥ ७ ॥
सम्प्रतीतेषु देवेषु सामगेषु च सुस्वरम् । परिक्रान्तेषु लघुषु
अध्वर्युपुरुषेषु च ॥ ८ ॥ आलभ्येषु च मध्ये तु तथा पशुगणेषु च ।
आहूतेषु च देवेषु यज्ञभुक्षु ततस्तदा ॥ ९ ॥ य इन्द्रियात्मका देवा
यज्ञभागभुजस्तु ते । तान्यजन्ति तदा देवाः कल्पादिषु भवन्ति ये ॥१०॥
अध्वर्युप्रैषकाले तु व्युत्थिता ऋषयस्तथा । महर्षयश्च तान्दृष्ट्वा दीना-
न्पशुगणांस्तदा ॥ ११ ॥ विश्वभुजं ते त्वपृच्छन्कथं यज्ञविधिस्तव ॥ १२ ॥

मत्स्यपुराण अ० १४३

"उक्त प्रश्न श्रवण करके सूत कहने लगे कि—वैदिक मंत्रोंका विनियोग यज्ञकर्म में करके विश्वभुक् इंद्रने यज्ञका प्रचार किया। देवताओंका संगठन किया, सब यज्ञके साधन इकट्ठे किये और अश्वमेधका प्रारंभ हुआ जिसमें अनेक महर्षिभी प्राप्त हुए थे। इस यज्ञमें अनेक ऋत्विज् अनेक प्रकारके हवि अग्निके अंदर अर्पण करने लगे। जब सुस्वर सामगान होने लगा, और पशुओंका आलंभन चलने लगा, यज्ञका सेवन करनेवाले देव जब आहूत हुए, उस समय दीन पशुगणोंको अवलोकन करके महर्षिगण उठे और इंद्रसे पूछने लगे कि तुम्हारा यज्ञविधि क्या है ? "

ऋषिलोग इस रीतिसे पशुयज्ञ देखकर क्रोधित हो गये क्यों कि "प्राचीन कल्पोंमें इंद्रियों को ही यज्ञभाग लेने वाले देव मानकर उनका ही यजन किया जाता था।" यह ऋषियोंको आध्यात्मिक यज्ञ ज्ञात था और इस आध्यात्मिक यज्ञ को महर्षियोंकी संमति भी थी। इंद्र यही आध्यात्मिक यज्ञ कर रहा है, इस भावनासे ऋषिमहर्षि इंद्रके इस यज्ञमें आगये थे, परंतु जब उन्होंने इसमें दीन पशुओंकी हिंसाका प्रसंग देखा, तब वे बडे दुखी होगये, और उन्होने पूछा कि " रे इंद्र ! तू क्या कर रहा है ? किस विधिसे तेरा यज्ञ हो रहा है ? "

अर्थात् जिस यज्ञमें पशुकी हिंसा होगी वह यज्ञ ऋषियोंको संमत ही नहीं था। ऋषिलोग तो उस यज्ञके पक्षमें थे, कि जिसमें धान्य समिधा

आदिकाही हवन हो। ऋषियोंकी संमति पशुमांस हवन के लिये कदापि मिलना संभवही नहीं था। पशुमांस का हवन जिसमें होता है वैसा यज्ञ ऋषियोंने कभी देखा ही नहीं था और न सुना था। इस लिये इंद्रका यह याग देख कर ऋषि महर्षिगण हैराण होगये और घबरा कर इंद्रसे पूछने लगे कि " हे इंद्र ! तू किस विधिके अनुसार यज्ञ कर रहा है ? "

ऋषियोंके प्रश्नमें ही हिंसा कर्मका पूर्ण निषेध है। यह अश्रुतपूर्व बात जो ऋषिमहर्षियोंने यहां देखी, वह इंद्रकी ही नवीन बात थी; जिसके साथ ऋषि लोग परिचितही नहीं थे। ऋषिलोग वैदिक यज्ञको पूर्णतासे जानते थे और वे समझते थे कि वैदिक यज्ञमें हिंसाका नाम निशान भी नहीं था। इस लिये वे फिर कहते हैं—

पशुबलिकी नवीन प्रथा।

अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव नवः पशुविधिस्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम ॥ १२ ॥ अधर्मो धर्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया। नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते ॥ आगमेन भवान्धर्मं प्रकरोतु यदीच्छति ॥ १३ ॥ विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मेणाव्यसनेन तु। यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिपोषितैः ॥ १४ ॥ एष यज्ञो महानिन्द्र स्वयंभुविहितः पुरा। एवं विश्वभुगिन्द्रस्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ उक्तो न प्रतिजग्राह मानमोहसमन्वितः ॥ १५ ॥

" ऋषि कहते हैं — हे इंद्र ! यह बडाही अधर्म है। धर्मके नामसे तू हिंसारूप अधर्म कर रहा है !! तेरे इस यज्ञमें यह पशुका विधि एक (नवः विधिः) नवीन ही बात है। तूने यह धर्म का नाश करनेके लिये पशुओं द्वारा अधर्म ही शुरू किया है !!! यह धर्म नहीं है। यह अधर्म ही है। हिंसा को धर्म नहीं कहते हैं। यदि तुम्हे यज्ञ कर्म करना है, तो वैदिक विधिसे करो। दुर्व्यसनी बनना छोडकर विधिके अनुसार धर्मसे यज्ञ करो। हे इंद्र ! यज्ञिय धान्यके बीजोंसेही यज्ञ करनेका विधि है। यही यज्ञ स्वायंभु मनुने पहिले कालमें कहा था। इस प्रकार ऋषियों ने इंद्रको बहुतही समझाया, परंतु इंद्रने ऋषियोंका कथन माना नहीं। "

इस ऋषिवचनके अंदर यह स्पष्ट हुआ है कि (१) वैदिक धर्मके अनुसार धान्यों और बीजोंका ही हवन इष्ट है (२) यज्ञमें वैदिक विधिके अनुसार पशुहिंसा नहीं है, (३) यज्ञमें पशुहिंसा का प्रचार नवीन है और व्यसनी वृत्तिके कारण हुआ है, इसी लिये उक्त ऋषिवाक्य में व्यसनी न बननेका उपदेश है। (४) हिंसा करके धर्मका आचरण नहीं हो सकता (५) स्वायंभु मनुने जो यज्ञ कहा था, उसमें पशुवध नहीं था। इत्यादि बातें ऋषि वचनमें आगई हैं, उनका मनन करना योग्य है। इसके पश्चात्—

दोनोंका शास्त्रार्थ।

तेषां विवादः सुमहाञ्जज्ञे इन्द्रमहर्षिणाम्। जंगमैः स्थावरैः केन यष्टव्यमिति चोच्यते ॥ १६ ॥ ते तु खिन्ना विवादेन शक्त्यायुक्ता महर्षयः। सन्धाय सममिन्द्रेण पप्रच्छुः खचरं वसुम् ॥ १७ ॥

" इस रीतिसे इंद्र और महर्षियोंके बीचमें बडा शास्त्रार्थ छिड गया। स्थावर हव्यसे हवन होना चाहिये यह ऋषियोंका पक्ष था और वह वेदानुकूल भी था। जंगम पशु आदिसे यज्ञका हवन करना चाहिये यह व्यसनी इंद्रका पक्ष था। ऋषियोंकी बात इंद्र मानता नहीं था। इस लिये इंद्रको समझाते समझाते ऋषिमहर्षि शास्त्रार्थकी युक्तियां देते देते थक गये। अंत में दोनोंने निर्णयके लिये सम्राट् वसु महाराजसे पूछा। "

ऋषि महर्षि वेदज्ञान से परिपूर्ण होने पर भी पशुयज्ञके पक्षपातीयोंको समझाने में असमथ हुए। फिर हमारे जैसे स्वल्प बुद्धिवालों से क्या बनेगा? पशुमांस का प्रलोभन इतना प्रबल है !! अस्तु। इस शास्त्रार्थका वृत्तांत आगे देखिये—

ऋषय ऊचुः।

महाप्राज्ञ त्वया दृष्टः कथं यज्ञविधिर्नृप।
औत्तानपादे प्रब्रूहि संशयं नस्तुद प्रभो ॥ १८ ॥

सूत उवाच ।

श्रुत्वा वाक्यं वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम् ।
वेदशास्त्रमनुसृत्य यज्ञतत्त्वमुवाच ह ॥ १९ ॥

" ऋषि पूछने लगे-कि हे उत्तानपादके वंशज वसुराजा ! तूने कौनसा यज्ञविधि देखा है, कह । हमारी आशंका का समाधान कर । "

" सूत बोले—कि उन ऋषि मुनियोंका प्रश्न सुनकर वेदशास्त्रके अनुसार वचनोंका बलाबल न विचारते हुए ही यज्ञका तत्त्व वसुराजा कहने लगा "—

यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति होवाच पार्थिवः । यष्टव्यं पशुभिर्मेध्यैरथमूलफलैरपि ॥ २० ॥ हिंसा स्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः । तथैते भाविता मन्त्रा हिंसालिङ्गा महर्षिभिः ॥ २१ ॥ दीर्घेण तपसा युक्तैस्तारकादिनिदर्शिभिः । तत्प्रमाणं मया प्रोक्तं तस्माच्छामितुमर्हथ ॥ २२ ॥ यदि प्रमाणं स्वान्येव मन्त्रवाक्याणि वो द्विजाः । तथा प्रवर्ततां यज्ञो ह्यन्यथा माऽनृतं वचः ॥ २३ ॥

" राजा वसु बोला—कि द्विजोंको मेध्य पशुओंसे तथा फल मूलोंसे ही यज्ञ करना उचित है । यज्ञका स्वभाव ही हिंसा है यह मैंने देखा है । महर्षियों ने मंत्रों को जाना है जो बडे तपस्वी थे और दीर्घदर्शी अर्थात् तत्त्वज्ञानी भी थे । इसलिये यह प्रमाण मैंने कहा है अत: आप शांत हूजिये । यदि आपको भी वेदमंत्र ही प्रमाण हैं तो वैसा पशुयाग ही कीजिये और व्यर्थ झूठ बोलना आपको उचित नहीं है । "

इस तरह सभाका मध्यस्थ और अध्यक्ष सम्राट् वसु भी ऋषिमहर्षियोंके विरुद्ध हुआ और उन्होने देवोंका पक्षपात करके देवोंके हक्कमें अपनी संमति दे दी । इसका कारण यही था कि वसुराजा भी अधिकारसंपन्न देवों के विरुद्ध बोलना पसंद करता नहीं था । ब्राह्मणोंके पास स्वर्गकी कूंजियां नहीं है, ऐसा समझकर उन्होने देवोंके पक्षमें इस प्रकार कहा । परंतु इसका परिणाम उसे बहुत बुरी रीतिसे भोगना पडा-

एवं कृतोत्तरास्ते तु युज्यात्मानं ततो धिया । अवश्यं भावितं दृष्ट्वा तमधो ह्यशपंस्तदा ॥२४॥ इत्युक्तमात्रो नृपतिः प्रविवेश रसातलम्। ऊर्ध्वचारी नृपो भूत्वा रसातलचरोऽभवत ॥ २५ ॥ वसुधातलचारी तु तेन वाक्येन सोऽभवत । धर्माणां संशयच्छेत्ता राजा वसुरधोगतः ॥२६ ॥

यह राजाका भाषण श्रवण करके ऋषियोंने इसे शाप दिया कि 'तेरा अधःपात होवे ' इस से इसका अधःपतन हुआ । धर्मके विषयमें सब संशयोंका निराकरण करनेवाला राजा वसुभी इस प्रकार पतित होगया । "

धर्मके विषयमें इतनासा पक्षपात करनेके कारण सम्राट् वसुमहाराज की ऐसी अवनति हो गई । यह है यज्ञमें पशुवध के पक्षपात का परिणाम ! यदि कोई साक्षात् पशुवध करेगा, तो उसका क्या होगा यह विचारवान् पाठक विचार करके ही जान सकते हैं इतना प्रभावी वसुराजा भी यज्ञमें पशुहिंसाका पक्षपात करनेके कारण गिर गया और फिर शीघ्र उठ नहीं सका। इन्होंने स्वयं हिंसा नहीं की, परंतु यज्ञमें पशुहिंसाका केवल समर्थन ही किया । इससे ही पाठक जान सकते हैं कि, पुराणोंका आशय क्या है । पुराणग्रंथ पाठकों को अहिंसामय यज्ञ की ओर ही लाना चाहते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक देखिये —

तस्मान्न हिंसा यज्ञे स्याद्यदुक्तमृषिभिः पुरा । ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभिर्दिवंगताः ॥ २९ ॥ तस्मान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसंति महर्षयः। उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ॥ ३० ॥ एतद्दत्त्वा विभवतः स्वर्गे लोके प्रतिष्ठिताः । अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः॥३१॥ ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः । सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद्दुरासदम् ॥ ३२ ॥

" इसलिये यज्ञमें हिंसा नहीं होनी चाहिये यह बात प्राचीन कालसे ऋषि कहते आये हैं, कोटिशः ऋषिलोग अपने तपोंसे ही स्वर्गको चले गये और इसी कारण हिंसामय यज्ञकी प्रशंसा ऋषि लोग नहीं किया करते हैं । यथाशक्ति फलमूल शाक आदि जो अपने पास हो वह दे कर अर्थात् उसका दान कर स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं । अद्रोह, दम, शम,

भूतदया, ब्रह्मचर्य, तप,शौच, मनकी कोमलता, क्षमा और धैर्य यह सनातन धर्मका मूल है। " इसमें भूतदया, अहिंसा ये ही प्रधानगुण हैं, इस लिये सनातन धर्मके यज्ञमें हिंसा नहीं होनी चाहिये। यह निश्चित बात है।

अर्थात् सनातन वैदिक धर्मके अनुसार यज्ञमें पशुकी हिंसा अभीष्ट ही नहीं है। पूर्वोक्त यज्ञीय बीजोंका हवन करना ही वैदिक यज्ञमें इष्ट है और इस प्रकार होने वाला निर्मांस यज्ञ ही सच्चा वैदिक यज्ञ कहलाता है।

यह देव और ऋषियोंके शास्त्रार्थ का सार है। इस शास्त्रार्थ के समय स्वयं वसुराजा सभापति था। परंतु उसने पक्षपात किया इसलिये उसका पतन हुआ। (यही कथा वायुपुराण अध्याय ५७ में भी न्यूनाधिक पाठ-भेदसे आगई है।)

इस शास्त्रार्थ की बात से पता लगा कि मत्स्यपुराण और वायुपुराण की संमति तो निर्मांस यज्ञ के विषयमें ही स्पष्ट है। इसमें किसी भी प्रकार कोई विरोध किसी का होही नहीं सकता। क्यों कि उक्त श्लोकोंका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है।

यही शास्त्रार्थका वृत्तांत महाभारतमें भी है, वहांके कुछ श्लोक देखिये-

महाभारतकी साक्षी।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ॥ २ ॥

म. भारत. शांति अ. ३३६

" ऋषि और देवोंके शास्त्रार्थ का पुरातन इतिहास यह है। " इस श्लोक के, पश्चात् कोष्ट में दिये श्लोक मद्रास के महाभारतमें अधिक आते हैं-

[इयं वै कर्मभूमिः स्यात्स्वर्गो भोगाय कल्पितः। तस्मादिन्द्रो महीं प्राप्य यजनाय तु दीक्षितः ॥ ३ ॥ सवनीयपशोः काल आगते तु बृहस्पतिः। पिष्टमानयितामत्र पश्वर्थमिति भाषत ॥ ४ ॥ तच्छ्रुत्वा देवताः सर्वा इदमूचुर्द्विजोत्तमम्। बृहस्पतिं मांसगृध्राः पृथक्पृथगिदं पुनः ॥ ५ ॥ ' अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्। स च

छागोऽप्यजो मेध्यो नान्यः पशुरितिस्थितिः ॥ ६ ॥

म. भा. शां० ३४५

" यह कर्मभूमि है और स्वर्ग भोगके लिये ही है। इसलिये इन्द्र भूमिपर आकर यज्ञकर्म करनेके लिये दीक्षित बना। मवनीय पशुका समय प्राप्त होने पर बृहस्पतिने कहा कि " पशुके लिये आटा लाओ। " यह बृहस्पतिका भाषण सुनकर (मांसगृध्राः) मांसभक्षण के लालची देव बृहस्पतिसे पुनः पुनः बोलने लगे कि बकरे के मांस से हवन करना चाहिये। "

यह देवोंका भाषण श्रवण करके ऋषि बोलने लगे कि—

ऋषय ऊचुः ।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः । अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ ४ ॥ नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः । इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः ॥ ५ ॥

—म. भारत शां. अ. ३३७

" यज्ञों में बीजोंसे अर्थात् धान्यसे हवन करना चाहिये यह वेदकी श्रुति है। अज नामके बीज हैं इसलिये बकरा मारना योग्य नहीं है। हे देवो! पशु मारना सज्जनोंका धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ कृतयुग है इस समय यज्ञमें पशु कैसा मारा जायगा? "

इस रीतिसे देवों और ऋषियोंका विवाद चलता रहा। तत्पश्चात् सम्राट् उपरिचर वसु महाराज के सभापतित्वमें शास्त्रार्थ होनेका निश्चय हुआ। देवों और ऋषियोंने मिल कर उक्त सम्राट् को ही अपना अध्यक्ष चुन लिया और उसके सन्मुख अपना विवाद रखा—

भो राजन्केन यष्टव्यमजेनाहो स्विदौषधैः। एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान्मतः ॥ ११ ॥ स तान्कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः । कस्य वै को मतः पक्षो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः । १२

—म. भारत शां. अ.३३७

" हे राजन्! बकरेके मांस का हवन होना चाहिये, या औषधियोंका हवन करना चाहिये, यह विवाद चल रहा है, इसका फैसला आप कीजिये।

आपही हमारे प्रमाण हैं। वह राजा हाथ जोडकर उनसे पूछने लगा कि किस का पक्ष क्या है वह सत्य सत्य मुझे कहिये।"

यहां पाठक देख सकते हैं, राजाने जो यह पूछा उसमें उसका विशेष हेतु था। ऋषि लोग और देव इन में विवाद था। इसलिये प्रबल पक्षके साथ अपनी संमति देनेका विचार करके वसुराजाने उक्त प्रश्न किया था। 'सत्यपक्ष यह है' इतनाही कहना होता, तो वसुराजाको उक्त प्रश्न पूछने की कोई आवश्यकता प्रतीत न होती। परंतु उसके मनमें विशिष्ट पक्षकी ओर झुकनेकी कल्पना आगई थी।

यदि किसी समय आजकल कोई विवाद उत्पन्न हो और वह विवाद एक ओर पंडित लोग हों और दूसरी ओर सरदार राजे महाराजे हों, तो अध्यक्ष की जो अवस्था हो सकती है वही अवस्था उपरिचर वसुकी होगई थी। पंडितोंका पक्ष लेनेसे कोई लाभ नहीं और सरदारों और राजामहाराजों का पक्ष लेनेसे बहुत लाभ हो सकता है, यह भाव जब सभाध्यक्षके मनमें किसी कारण उत्पन्न हो जाय, तब उसका निर्णय धर्म सभाध्यक्ष के योग्य नहीं हो सकता। यही अवस्था वसुराजाकी हो गई। वसुराजाकी उक्त प्रश्न श्रवण करके ऋषिलोग अपने सरल भावसे कहने लगे-

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप।
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन्वदस्व नः॥ १३॥
म. भा. शांति. ३३७

"ऋषि बोले कि—धान्य हवन करनेका पक्ष हमारा है और पशुहवन का पक्ष देवोंका है। इस विषयमें आप निर्णय दीजिये।"

दोनोंका पक्ष विदित होते ही वसुराजा ने उत्तर दिया—

सभापतिका पक्षपात।

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात्।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा॥ १४॥
म. भा. शांति ३३७

"देवोंका पक्ष जानकर वसुराजाने पक्षपात से बकरे के मांससे हवन करना चाहिये ऐसा भाषण किया।"

इस पक्षपातका परिणाम उपरिचर वसुराजाको बहुत बुरी रीतिसे भोगना पड़ा, देखिये—

कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः। ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम्॥ १५॥ सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात्तस्माद्दिवः पत॥

म. भारत. शांति ३३७

"सब मुनि क्रोधित हुए और बोले की हे राजन्। तूने पक्षपातसे देवोंके पक्षका समर्थन किया है इसलिये तेरा अधःपात होगा।"

उस दिनसे वसुराजा पतित होगया और उसकी कोई इज्जत नहीं रही। केवल मांस यज्ञका पक्षपात करनेसे इस प्रकार एक बडे सम्राट्का अधःपात हो गया है। यह देखकर अब कोई भी पशुयाग का समर्थन न करे।

निर्मांस यज्ञका फल।

अब निर्मांस यज्ञ करनेका फल देखिये कैसा होता है। यह निर्मांस यज्ञ उसी उपरिचर वसुराजानेही किया था। इसका वृत्तांत यह है—

एभिः समन्वितो राजन्गुणैर्विद्वान्बृहस्पतिः॥ २ तस्य शिष्यो बभूवाग्र्यो राजोपरिचरो वसुः। अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक्चित्रशिखंडिजम्॥ ३॥ स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः। पालयामास पृथिवीं दिवमाखंडलो यथा॥ ४॥ तस्य यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः। बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह॥ ५॥ प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्याश्चा भवंस्त्रयः। एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः॥६॥ धनुषाख्योऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू। ऋषिर्मेधातिथिश्चैव तांड्यश्चैव महान् ऋषिः॥ ७॥ ऋषिः शांतिर्महाभागस्तथा देवशिराश्च यः। ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः॥ ८॥ आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशंपायनपूर्वजः॥ कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडशकीर्तिनः॥ ९॥ संभूताः सर्वसंभारास्तस्मिन्राजन्महाक्रतौ। न तत्र पशु—

घातो ऽ भूत् स राजैरास्थितो ऽ भवत् ॥ १० ॥ अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः। आरण्यकपदोद्‍भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥११॥ प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः । साक्षात्तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥ १२ ॥

म. भारत. शांति. अ. ३३८

"गुणवान् विद्वान बृहस्पतिका शिष्य उपरिचर वसुराजा था । उसने बृहस्पतिसे नाना शास्त्रोंका अध्ययन किया । वह इंद्रके समान राष्ट्रका पालन करता रहा । उस राजाने बडा अश्वमेध किया । इस यज्ञमें बृहस्पति उपाध्याय होता बना था । प्रजापतिके पुत्र सदस्य बने थे । एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मेधातिथि, तांड्य, शांति, देवशिरा, कपिल (शालिहोत्र पिता) , आद्य कठ, तैत्तिरी (वैशंपायन पूर्वज) , कण्व, देव होत्र, ये सोलह ऋत्विज थे । सब यज्ञ संभार संगृहित होनेके बाद वह यज्ञ हुआ, परंतु उसमें पशुघात नहीं हुआ । वह यज्ञ अहिंसामय, शुद्ध और विशेष प्रशंसनीय हुआ और इस यज्ञसे पुरातन देवोंका देव संतुष्ट हुआ ।"

यह निर्मांस यज्ञका फल है । इसी यज्ञसे वसुराजाकी उन्नति और उसका अभ्युदय हुआ । निर्मांसयज्ञका यह फल देखिये । परंतु जब उसने देवोंका पक्षपात करके समांस यज्ञके लिये अपनी संमति दी, तब उसका अधःपात होगया!! इससे सिद्ध है कि निर्मांस औषधियज्ञ ही श्रेष्ठ है और समांस यज्ञ अधार्मिक अत एव अधःपात करनेवाला और सर्वतोपरि गिरानेवाला है ।

अधार्मिक प्रवृत्तिसे समांस यज्ञ शुरू हुआ इस विषयमें महाभारतमें ही एक प्रमाण है वह यहां देखने योग्य है—

अधार्मिक वृत्तिसे समांस यज्ञ ।

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः । अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा ॥ ८२ ॥ चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः । ततस्त्रेता युगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥

प्रोक्षिता यज्ञपशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे ॥ यत्र पाद-
श्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥ ८४ ॥

म. भा शांति अ. ३४०

" यह कृत युग है, यह श्रेष्ठ काल है। इस युगमें यज्ञके पशु अहिंस्य अर्थात् हिंसा करनेके लिये अयोग्य हैं। क्यों कि इस युगमें चारों कलाओं से पूर्णधर्म होता है। इसके पश्चात् त्रेतायुग होगा, उसमें त्रयी विद्या होगी और यज्ञपशु प्रोक्षित होकर मारे जांयगे क्यों कि उस युगमें धर्मका एक भाग नहीं रहेगा। "

देखिये यज्ञमें पशुहिंसा तब शुरू हुई कि जब धर्मका एक भाग लुप्त हुआ। जिस समय तक पूर्णधर्म इस भूमंडल पर था तबतक वैदिक यज्ञ तो होते ही थे, परंतु उनमें औषधियोंका ही हवन होता था, और पशुवध नहीं होता था। जिस समय पूर्ण धर्मभावना रही नहीं कुछ धर्म रहा और कुछ अधर्म की कल्पनाएं बीचमें आगई तब यज्ञमें पशुवध प्रारंभ हुआ और अधर्म भावनाके बढ जानेके प्रमाण में ही यज्ञमें पशुवध बढता गया। इससे स्पष्ट है कि वास्तविक पूर्ण धार्मिक रीतिके यज्ञमें पशुवध होना ही असंभव है। जिस समय कुछ धर्मकी भावना और कुछ अधार्मिक प्रवृत्ति इनका मिश्रण हो जाय तब ही यज्ञमें पशुवध की संभावना हो सकती है। अतः हम विना संदेह कह सकते हैं अधर्म के साथ ही पशुयज्ञ का संबंध है। धार्मिक यज्ञमें पशुमांस का हवन होना असंभव है।

यहां कई कहेंगे कि कृत और त्रेता छोडकर यह तो कलियुग है इस लिये इसमें पशुयाग के लिये क्या दोष है? युगानुसार अधर्मवृद्धिका प्रमाण देखिये-

युग	धर्मभाग	अधर्मभाग
कृत (सत्य)	४	०
त्रेता	३	१
द्वापार	२	२
कलि	१	३

इस कलियुगमें एक हिस्सा धर्म है और तीन हिस्से अधर्म है। इस लिये यदि त्रेता युगमें यज्ञमें पशुहिंसा हो सकती है तो इस कलियुगमें क्यों नहीं हो सकती ?

इस शंकाके उत्तर में निवेदन है कि बेशक इस समय सत्यधर्म की भावना बहुत कम है और अधर्म की वृत्ति बहुत अधिक है। तथापि हमें अपने सामने कौनसा आदर्श रखना चाहिये ? सत्यधर्मका आदर्श रखना चाहिये या पूर्ण अधर्मका आदर्श रखना चाहिये ? सब लोग कहेंगे कि आदर्श तो धर्मकाही रखना चाहिये। यदि यह सत्य है तो धार्मिक यज्ञका ही आदर्श यज्ञकर्ता को अपने सन्मुख रखना चाहिये।

क्षण मात्र मान लिया जाय कि कलियुग में तीन भाग अधर्म और एक भाग धर्म रहा है। इस लिये स्वभावतः मनुष्यकी प्रवृति अधर्मकी ओर अधिक और धर्मकी ओर न्यून होतीही है। यह इसलिये नहीं कहा है कि कलियुग के नाम पर मनुष्य प्रतिदिन अधर्म ही करने लग जांय। परंतु इसलिये कहा है, इस युगमें स्वभावतः अधर्मवृत्ति अधिक होती है अतः प्रत्येक मनुष्य अपने सन्मुख उच्च धर्म का आदर्श रखे और कर्म करते समय प्रतिक्षण अपना आचरण शुद्ध धर्मकी कसोटीसे परीक्षा करके देखे और जहां अशुद्धिकी संभावना हो वहां सावधानताके साथ जहांतक हो सके वहां-तक अपने आपको अधर्म से बचावे।

अब प्रकृत विषयके संबंधसे इतनाही यहां कहना पर्याप्त है कि सत्ययुग के शुद्ध धार्मिक आचारके समय पशुमांस हीन ही यज्ञ हुआ करते थे। यही शुद्ध और उच्च धार्मिक यज्ञ है। यही आदर्श यजमानोंको अपने सन्मुख सदा रखना चाहिये। त्रेतायुगसे अधर्म बढ गया और यज्ञमें हिंसा प्रारंभ हुई। परंतु इस हिंसा का संबंध अधर्म के साथ है यह जानकर हर एक मनुष्यको और विशेषतः यजमानको इस अधर्म मूलक हिंसामय यज्ञसे बचनेका यत्न करना चाहिये और यथाशक्ति प्रयत्न करके निर्मांस यज्ञही करना चाहिये। क्यों कि वही धार्मिक शुद्ध यज्ञ है। इसी विषयमें एक इतिहासिक कथा देखिये। इसी महाभारतमें यह कथा है—

फलमूलोंसे यज्ञ।

श्रेष्ठ विदर्भदेशमें एक सत्य नामक ब्राह्मण था। उसने यज्ञ करनेकी इच्छा की। उसके पास श्यामाक, सूर्यपर्णी और सुवर्चला ये तीनही वन्य, धान्य और साक यज्ञके लिये थे। उसने-

"उपगम्य वने शुद्धिं सर्वभूताऽविहिंसया॥
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परंतप॥ ५॥

म. भा. शांति. २७२

'वानप्रस्थाश्रममें सब भूतोंकी अहिंसा करनेके कारण सब प्रकार से शुद्धि प्राप्त करके उसने निश्चय किया कि मूल फलों से जो यज्ञ किया जाता है वह भी स्वर्ग की प्राप्ति होने क लिये पर्याप्त है।" ऐसा निश्चय करके उसने उक्त वन्य वस्तुओंसे ही अपना यज्ञ करना प्रारंभ किया

इस श्लोक पर टीका करते हुए नीलकंठ चतुर्धर जी लिखते हैं-

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः। इति श्रुतेरर्थमाहापीति।

(म. भा. शां. २७२)

महाभारत टीका (नीलकंठी)

"मनुष्य जो अन्न भक्षण करता है, वही अन्न उसके देवताओंका होता है।" यह श्रुतिवाक्य है ऐसा टीकाकारने कहा है। यह किस स्थानका वचन है इसका पता हमें अभीतक लगा नहीं है। परंतु किसी ब्राह्मण ग्रंथ का यह वचन प्रतीत होता है। तात्पर्य स्पष्ट है कि जो मनुष्य शाकाहारी है उसकी देवताएं शाकभोजी होती हैं और जो मनुष्य मांसभोजी है उनकी देवताएं मांसभोजी होती हैं। इस कथन के सत्या-सत्यका विचार न करते हुए ही इस तत्वका स्वीकार करनेपर निम्न प्रकार फल निकल आता है-

१ नरमांस भक्षक मनुष्योंकी देवताएं मनुष्यमांस खानेवाली होती हैं, इस लिये नरमांस भोजी मनुष्य अपनी देवताओं के लिये नर-बली देते रहें।

२ घोडा, गाय, बकरा आदि पशुओं का मांस जो मनुष्य खाते हैं उनकी देवताएं भी उक्त मांस खातीं हैं, इस लिये गोश्तखोर मनुष्य अपनी देवताओं के उद्देश्यसे मांस अर्पण करते रहें।

३ जो मनुष्य चावल गेहूं आदि धान्य खाते हैं, दूध, घी, दही आदि सेवन करते हैं, उनकी देवताएं येही सात्विक पदार्थ खातीं हैं, इसकारण ये शाकभोजी मनुष्य इन्ही पदार्थोंका हवन तथा अर्पण करें।

प्रस्तुत विवादके प्रसंगमें यहां इतनाही कहना है कि जिस पं० दीक्षित महोदयजीने औंधमें सोमयाग किया वे वंशपरंपरासे केवल शाकभोजी शुद्ध सात्विक अन्न खानेवाले ही हैं। उनके बापदादा में किसीने भी कदापि मांसभक्षण किया ही नहीं था। इसलिये इनकी देवताएं निरामिषभोजी ही हैं। अतः इनको समासयज्ञ करना अत्यंत अनुचित था। यह बात यहां उक्त वचन से ही सिद्ध होगई।

यद्यपि देवताएं इसप्रकार नरमांसादि खातीं हैं ऐसा हम मानते नहीं हैं तथापि दुर्जनतोषन्यायसे उनकी यह बात हमने क्षणमात्र मान भी ली, तो भी उससे उनका मांस यज्ञ सिद्ध नहीं होता है, प्रत्युत निर्मांस यज्ञही सिद्ध होता है। इतना देखनेके पश्चात् हम पूर्वप्राप्त ब्राह्मणकी कथाका वृत्तांत देखते हैं। चूंकी ब्राह्मण वानप्रस्थी, शुद्धाचारी, अहिंसा का पालन करनेवाला था, इस लिये उन्होंने कंदमूल और फलोंसे ही यज्ञ करनेका निश्चय किया।

उस ब्राह्मणकी स्त्री बडी अहिंसाशील थी और उसका नाम पुष्करधारिणी था। *यह स्त्री अत्यंत पतिव्रता थी, जो पति कहता था वह सब श्रद्धापूर्वक* करती थी। यह इतनी अहिंसाशील थी कि वस्त्र के लिये मोर के पंख जो गिर जाते थे वही उपयोगमें लाती थी।

इस ब्राह्मण के आश्रममें एक पर्णाद नामका मृग था, वह इस यज्ञको देख रहा था। उस मृगने एक समय उक्त ब्राह्मणसे कहा कि यह तुम्हारा यज्ञ सांग नहीं है—

वचोभिरब्रवीत्सत्यं स्वयेदं दुष्कृतं कृतम् । यदि मंत्रांगहीनोऽयं यज्ञो भवति वैकृतः ॥ मां भो प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिंदितः ॥ १ ॥
म. भा. शांति. २७२ ॥

उस मृगने कहा कि " यह तेरा यज्ञ (दुष्कृत) बुरी विधिसे किया हुआ है क्यों कि यह मंत्र और अंगसे हीन है । अतः अपना यज्ञ सांग करनेकी इच्छा तुम्हारी है तो तुम मेरे मांस का हवन करो और अनिंदित होता हुआ स्वर्ग को चला जा । "

यह मृग का भाषण श्रवण करके उस सत्यनामक ब्राह्मणने कहा कि—

न हन्यां सहवासिनम् ॥ ११ ॥

म. भा. शां. अ. २७२ ॥

" मैं साथीका हनन नहीं करूंगा । "

ब्राह्मण इस रीतिसे हिंसासे दूर रहना चाहता था और मृग उसको अपना वध करानेके लिये उत्साहित करता था । अंतमें—

मृगमालोक्य हिंसायां स्वर्गलोकं समर्थयत् ॥ १६ ॥ तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मना तदा । तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥ १८ ॥ —म. भा. शांति. २७.

" मृगका हठ देख कर उसने अपने स्वर्गवास के लिये मृगमांस से हवन किया । उस प्रकार मांस हवन का यज्ञ करनेसे उस ब्राह्मण का बहुत ही तप नष्ट हुआ, इस लिये यज्ञमें हिंसा नहीं करनी चाहिये । "

इस ब्राह्मणकी धर्मपत्नी पहिलेसेही ऐसे हिंसाकर्मसे असंतुष्ट थी और पूर्णरीतिसे विरुद्ध थी । अंतमें तात्पर्य यह निकला कि —

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाऽहितः ।

म. भा. शां. अ. २७२

" अहिंसा ही परिपूर्ण धर्म है और जिसमें हिंसा करनी पडती है वह अहितकारक कर्म है । " यह अध्याय ही यज्ञमें हिंसाका निषेध करनेके लिये महाभारतमें लिखा गया है । टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर इस अध्याय की समाप्ति पर निम्नलिखित पंक्तियां लिखते हैं —

:।:

अत्र आख्यायिकातात्पर्यं पशुकार्ये श्यामाकादिविकारांश्चरुपुरोडाशा-दीन् कुर्यादिति गम्यते । तथा च गृह्ये " अथ श्वो भूतेष्टकाः पशुना स्थालीपाकेन वा "इति पशुस्थाने स्थालीपाकोऽपि विधीयते।एवमन्यत्र पुरोडाशामिक्षादीनामपि पशुस्थाने विधानमवगंतव्यम् । तस्माच्च हिंसायज्ञः श्रेयानिति यज्ञनिंदेत्यध्याय नाम तत्र हिंसायज्ञनिंदे त्यवगंतव्यम् ॥

म. भा. शां. अ. २७२ (नीलकंठी टीका)

" इस कथा का तात्पर्य यह है कि यज्ञमें पशुके स्थानपर श्यामाक आदि धान का उपयोग करना चाहिये ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है । गृह्य सूत्रमें भी ' पशुस्थानमें स्थालीपाक' का प्रयोग करनेको कहा है।अन्यत्र भी पुरोडाश, दही आदि का पशुके स्थानपर उपयोग करना चाहिये । अतः हिंसायज्ञ श्रेयस्कर नहीं है · इस अध्याय का नाम यज्ञनिंदा है इसका तात्पर्य हिंसा-यज्ञ की निंदा समझना चाहिये! " इसी टीकाकारने इसी अध्याय के नवम श्लोक की टीकामें निम्न पंक्ति लिखी है—

यथा वा ज्योतिष्टोमे आनुबंध्यायां गोपशोः स्थाने पश्वभावे पयस्येत्या-श्वलायनाद्युपदिष्टायां पयस्यायां ० ।

(म. भा. शां. २७२ । ९ नीलकंठी)

" ज्योतिष्टोम में गौ के स्थानपर दही का उपयोग करने को लिखा है। " यह आश्वलायन का कथन है। शतपथ में तो कई स्थानोंमें पशुओं के स्थान-पर घृताहुती देनेका विधान पूर्व लेखोंमें बताया ही है । इसका तात्पर्य स्पष्ट यही है कि यज्ञमें पशुमांस हवन की आवश्यकता नहीं है, इतनाही नहीं प्रत्युत समांस यज्ञ करनेसे अवनति, अधोगति, अधःपात तथा पतन होता है । इस कारण कोई भी वैदिक धर्मानुयायी कभी समांस यज्ञ न करे तथा समांस यज्ञ यदि किसीने प्रमादसे किया अथवा करनेका आरंभ किया तो उसे प्रतिबंध करें और निर्मांस यज्ञका खूब प्रचार करें ।

अब निर्मांस यज्ञके संबंधमें श्रीमद्भागवत की साक्षी बताकर इस लेखको समाप्त करना है, देखिये भागवतकार क्या कहते हैं—

(१) भो भोः प्रजापते राजन्पशून्पश्य त्वयाध्वरे। संज्ञापितान् जीवसंघान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव ।
संपरेतमयःकुटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥

भा० ४ । २५ । ७, ८

(२) तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्तास्तेऽदयालुना।
कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ।

भा० ४ । २८ । २६

" हे राजन् । तेरे यज्ञमें जो सहस्रों पशु तेरी निर्दयतासे मारे गये वे तेरी उस क्रूरताका स्मरण करते हुए क्रोधित होकर तीक्ष्ण हथियारोंसे तुझे काटने के लिये बैठे हैं । "

" इस दयाहीनने जो यज्ञमें पशु मारे थे वे ही क्रुद्ध होकर, उसका यह अयोग्य कर्म स्मरण करते हुए, उसको कुल्हाडोंसे छिन्न भिन्न करने लगे । "

ये भागवत के वचन स्पष्ट रीतिसे कह रहे हैं कि पशुयज्ञका परिणाम स्वर्गमें बहुत ही बुरा होता है । यज्ञमें मारे हुए पशु कुल्हाडे लेकर स्वर्गमें बैठे होते हैं, जब यजमान वहां पहुंचता है,तब वे उसे काटते हैं और उसके टुकडे टुकडे करते हैं । पशुयज्ञका कितना भयानक परिणाम यह है, पाठक अवश्य देखें और सोचें कि यदि इतनी भयंकर अवस्था बनती है तो क्यों पशुयाग किया जाय?

धान्य हवन करके स्वर्गीय सुख प्राप्त करना ही योग्य है । मूर्खतासे पशुयाग का खटाटोप करके अपने आपका ही नाश करवाना किसी भी मनुष्य को योग्य नहीं है ।

तात्पर्य पुराणों का भी आशय देखा जाय तो वे ग्रंथ भी पशुयाग का खंडन अनेक प्रकारोंसे और स्पष्ट शब्दोंसे कर रहे हैं । प्रायः किसी भी पुराण का यह तात्पर्य नहीं है कि पशुयाग करना चाहिये । परंतु प्राय: सभी पुराण अपने अपने ढंगसे पशुयाग का खंडन ही कर रहे हैं । यह बात और है कि पुराणों का पशुयाग खंडन का ढंग भिन्न है, परंतु पुराणोंका तात्पर्य पशुयाग

खंडन में है इसमें किसीका भी मतभेद होही नहीं सकता .

अतः पशुयाग धर्मबाह्य है और धान्य, पुरोडाश, घी, दूध, समिधा, औषधि आदि का हवन करना धर्मानुकूल है ।

वैदिकयज्ञ और पशुहिंसा।

(ले०— श्री. पं० धर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार)

वैदिक यज्ञों में पशुहिंसाका विधान है वा नहीं इस विषयमें बहुत देरसे विवाद जारी रहा है । स्वयं वैदिक साहित्यमें ऐसे भाग हैं जिनका अभिप्राय पशुहिंसा का समर्थक प्रतीत होता है, जब तक निम्नलिखित आवश्यक निर्देशों को ध्यानमें न रक्खा जाए । इस लेखमें निम्न लिखित निर्देश देना पर्याप्त समझता हूं जो इस विषयमें अवश्य उपयोगी सिद्ध होंगे।

(१) सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक साहित्य में यज्ञ का एक प्रसिद्ध पर्यायवाची शब्द " अध्वर " पाया जाता है । निरुक्तकार यास्काचार्यने ' अध्वर ' की ' ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' यह निरुक्ति बताई है जिसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हिंसारहित कर्म ही का नाम अध्वर अथवा यज्ञ है । क्या यह माना जा सकता है कि हमारे पूर्वज आर्य इतने असम्बद्ध प्रलापी थे कि यज्ञको अध्वरनामसे पुकारते हुए वे उसके अन्दर गायों, बैलों, घोडों, बकरियों और यहांतक कि पुरुषों की भी बलियां देना धर्म समझते थे? हमारे विचारमें यह बात नहीं आसकती ।

(२) पर इस पर यह कहा जाता है कि साधारण तौर पर अहिंसाको अच्छा मानते हुए भी प्राचीन आर्ययज्ञोंमें हिंसा को वेदविहित होनेसे अहिंसा के तुल्य पुण्य हेतु समझते थे इसी लिये शास्त्रकारोंने कहा है " वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति । "

इसके उत्तरमें हम यह कहना चाहते हैं कि (१) "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" यह किसी प्रामाणिक ग्रंथका वचन नहीं। (२) मनुस्मृति में इस आशयके—

या वेदविहिता हिंसा विहिताऽस्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्यात्।"

इत्यादि श्लोक आये हैं। इस प्रकारके वाक्यों को प्रामाणिक मान लेने पर भी उनका इतना ही अभिप्राय है कि वेदमें हिंसपशु दुष्ट सर्प इत्यादि और दुष्ट राक्षस शत्रुओंकी हिंसाका जो प्रतिपादन यजु० अ० १३

मयं पशुं मेधमग्ने जुषस्व ......मयं ते शुगृच्छतु (मं० ४७) गौरं ते शुगृच्छतु (मं० ४८) गवयं ते शुगृच्छतु (मं० ४९) शरभमारण्य-मनु ते दिशामि ...... शरभं ते शुगृच्छतु (मं० ५१)

तथा —'चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हान्मि ते विषम्। अहे म्रियस्व मा जीवी॥ अथ० ५। १३। ४

सहमूलमिन्द्रवृथा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।

इत्यादि मंत्रों में किया गया है वह पापजनक नहीं क्यों कि उसका उद्देश्य जनता की रक्षाका है। यज्ञ का मुख्य तात्पर्य ही जनता के हितसम्पादन का है इसी लिये ब्राह्मणों में कहा है —

"यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते॥"

इसी भाव से ही यजुर्वेद के प्रथम अध्यायके प्रथम ही मन्त्र में यज्ञको 'श्रेष्ठतम कर्म' के नामसे पुकारा गया है। जब सब धर्मशास्त्र तथा योग-दर्शनादि—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥ एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥'अहिंसा सत्यास्तेयऽपरिग्रहा यमाः॥'

के अनुसार अहिंसा को सब से उच्च स्थान देते हुए उसे सब वर्णोंके लिये धर्म बतलाते हैं तब यज्ञ जैसे श्रेष्ठतम कर्म में उसका प्रत्यक्ष उल्लंघन किस प्रकार ठीक माना जा सकता है!

(३) यज्ञ इस शब्द के यौगिकार्थ में भी पशुहिंसा की गन्धतक नहीं। यज धातु के देव-पूजा, संगतिकरण और दान ये तीन अर्थ बताये गये हैं। इन के अन्दर हिंसा का भाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष किसी रूपसे नहीं पाया जाता इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(४) मुख्यतः यज्ञ के पर्यायवाची मेधशब्दको ' अजमेध, गोमेध, पुरुष-मेध, अश्वमेध' इत्यादि शब्दों में देखकर वैदिकयज्ञों में पशुहिंसा विधान का भ्रम हुआ यह साफ प्रतीत होता है। मेध धातुके अर्थोंमें से एक अर्थ हिंसा है इस में सन्देह नहीं किन्तु केवल वही अर्थ नहीं है। बुद्धिवृद्धि तथा संगमन अथवा एकता उत्पन्न करना और पवित्र करना ऐसा भी उसका अर्थ है। ऐसी अवस्था में कोई कारण नहीं कि हिंसा अर्थ पर ही क्यों आग्रह किया जाए जब कि निम्नलिखित अन्य पुष्ट प्रमाणों तथा सामान्य बुद्धि द्वारा हिंसा अर्थ का ग्रहण सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

क – पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ और नृयज्ञ ये तीनों शब्द पर्यायवाचक हैं और मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या

'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।'

इस प्रकार की गई है जिसका अर्थ यह है कि नृयज्ञ वा नृमेधसे मनुष्यों की यज्ञमें बलि देनेका मतलब नहीं बल्कि उत्तम विद्वानों विशेषतः अतिथियों की पूजासे उसका तात्पर्य है।

ख–गोमेध का ही विधान ' गोमेज ' के नामसे पारसियों के धर्मग्रन्थ ' जिन्द अवस्ता ' में पाया जाता है वहां हॉग इत्यादि सब विद्वान् टीका-कारोंने उसका अर्थ कृषिद्वारा भूमिका सुधार लिया है क्योंकि वैदिक संस्कृत की तरह जिन्द की भाषामें भी गौ शब्द के गाय और भूमि दोनों अर्थ हैं। वैदिक साहित्य में क्यों न गोमेध शब्दका वही अर्थ स्वीकार किया जाए और क्यों गाय की बलिपर ही कमर कस ली जाए यह कुछ समझमें नहीं आता? इस के अतिरिक्त जब कि हम सारे वैदिक साहित्यमें गौको अघ्न्याके नामसे पुकारा हुआ पाते हैं।—

'अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीम्' 'वत्सं जातमिवाघ्न्या' (इत्यादि) और उसके मारनेका

'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्।' यजु० १३।४३

इत्यादि में स्पष्ट निषेध पाते हैं इतना ही नहीं इतिहास में दिलीप इत्यादि बड़े सम्राटों तक को गोरक्षार्थ प्राणों की आहुति देने के लिये उद्यत पाते हैं तब तो हमें निश्चित तौर पर इसी परिणाम पर पहुंचना पड़ता है कि गोमेध का अर्थ गोपदवाच्य भूमि इन्द्रिय वाणी इत्यादि को पवित्र करना है न कि गरीब गाय की गर्दन पर छुरी चलाना जिसके महा अनर्थ होने में कोई शंका नहीं हो सकती जैसा कि महाभारत में एकस्थान पर कहा है—

अघ्न्या इति गवां नाम, क एतान्हन्तुमर्हति।

महच्चकाराऽकुशलं, वृषं गामालभेत्तु यः॥

तैत्तिरीय ब्राह्मणमें — "यज्ञो वै गौः।" "अन्नं वै गौः।"

इत्यादि वचनों से भी गोमेधका यथार्थ अभिप्राय पता लग सकता है।

ग.- इसी प्रकार अजमेध, अश्वमेध इत्यादिके भी अन्य अर्थों का ब्राह्मणग्रन्थों तथा महाभारत में स्पष्ट निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥ म० भा० अनुशासनपर्व। और शतपथ के —

राष्ट्रं वा अश्वमेधः, वीर्यं वा अश्वः॥ शत० ब्रा० १३।१।६।७ इत्यादि वचन सुस्पष्ट हैं।

महाभारत की इसविषयक साक्षि कि पशुहिंसा का वेदमें प्रतिपादन नहीं पर इसे वेद का अर्थ न समझनेवाले नास्तिक धूर्तों ने प्रवृत्त किया है विशेष दर्शनीय है।

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद्वेदेषु विद्यते॥ अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥

इतनी स्पष्ट साक्षिके होते हुए भी वैदिक यज्ञों में हिंसा का विधान है इस बात को कौन बुद्धिमान् पुरुष माननेको तय्यार हो सकता है!

(५) ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञप्रकरण में आलम्भका बहुत प्रतिपादन है । अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इत्यादि वाक्यों की वहां भरमार है। यजु०अ०२४ में-

' वसन्ताय कपिंजलानालभते , ग्रीष्माय कलविंकान् , वरुणाय चक्रवाकान्, मित्रावरुणाय कपोतान्,भूम्या आखूनालभते प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते । "

इत्यादि अनेक मंत्रांश पाये जाते हैं । ऐसे वाक्यों में एकदमसे आलंभका अर्थ मारना कर लिया जाता है । पर निम्न लिखित वाक्यों में 'आलभ' का प्रयोग स्पष्ट प्रमाणित करता है कि उसका सीधा अर्थ स्पर्श करना है ।

(क) कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्ययेन प्राशयेत् ।

पारस्कर गृ० सू०

यहां आलंभ का अर्थ मारना कोई भी न करेगा । सीधा अर्थ यही है कि बालक के उत्पन्न होनेपर अन्योंके स्पर्शसे पूर्व उसे घृत और शहद चटावे ।

(ख) पारस्करगृह्य सूत्र उपनयन प्रकरणमें —

' अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते । '

ऐसा पाठ है । यहां भी विद्यार्थी के दक्षिण कन्धे और हृदयके पास के प्रदेश को छूनेका विधान है न कि बेचारी गरीब विद्यार्थीके हृदयको फाड डालने का ।

(ग) विवाह प्रकरणमें भी — ' दक्षिणांसमधि हृदयमालभते '

इन्हीं शब्दों द्वारा करके वधूके स्कन्ध तथा हृदय स्पर्श करनेका विधान है । यहां कौन मूर्ख मारनेका ग्रहण करेगा ?

(घ) —सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ में—

' आलभेदसकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् । '

इस वाक्य में "दीन वार वार हाथ से सिर के बालों का स्पर्श करता है " यही अर्थ स्पष्ट है । मीमांसा दर्शन अ० २ पा० ३ सू० १७ पर सुबोधिनी टीकाकार ने भी —

' वत्सस्य समीपे आनयनार्थं अलंभःस्पर्शो भवति ।'

इस लेख द्वारा आलम्भका स्पर्शार्थकत्व बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है । इस विषयमें अन्य भी अनेक वाक्य सारे वैदिक और लौकिक साहित्य में से उद्धृत किये जा सकते हैं पर लेख विस्तार के भयसे ऐसा करना उचित नहीं। आशा है मांसलोलुप, वैदिक साहित्य में ' आलभेत ' पद देखते ही गरीब जानवरों के गलों पर छुरी चलाने पर कमर न कसलेंगे बल्कि प्यार से उन्हें स्पर्श किया करेंगे। विशसन संज्ञपन को भी मारनेके अर्थ में ग्रहण किया जाता है पर जैसा कि इन के धात्वर्थसे स्पष्ट है इन पदों से उचित शिक्षा देने और ज्ञान दिलानेका अभिप्राय है। उपनिषदों में–

" कामक्रोधलोभादयः पशवः । "

ऐसा अनेक स्थानोंपर स्पष्ट लिखा ही है अतः इन आन्तरिक पशुओंका हनन करके मनुष्यको वास्तविकरूपसे मनुष्य बनाया जाए यही यज्ञका तात्पर्य है और इस प्रकार गरीब पशुओंकी नहीं बल्कि पशुभाव की हिंसा का वहां विधान है ऐसा तत्वदर्शी लोग मानते हैं।

(६) महाभारत पुराणादि पढने से साफ पता लगता है कि यज्ञ में पशुहिंसा के विषयमें बहुत देरसे विवाद चलता आया है यहांतक कि 'देव' पशु हिंसा के समर्थक बताये गये हैं। पर एक बात सर्वत्र स्पष्ट दिखाई देती है जो मेरे विचार में बडी महत्त्वपूर्ण है वह यह कि ऋषिलोग सब जगह अहिंसात्मक यज्ञ का ही समर्थन करनेवाले रहे हैं। वे एक स्वरसे—

' न हिंसा धर्म उच्यते । नैप धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः॥ '

इत्यादि पवित्र नाद को ही सदा सर्वत्र गुंजाते रहे हैं। यहां तक कि पक्षपातवश वसुमहाराज के अन्याय करने परभी ऋषि निःशंक होकर उसे शाप दे डालते हैं और उसकी अधोगति हो जाती है। किसीभी कथा को देख लीजिये ऋषियों का सर्वत्र अहिंसात्मक पक्ष बताया गया है। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि ऋषि साक्षात्कृत धर्मा और मन्त्रद्रष्टा होते हैं वेद और धर्म के विषय में सबसे अधिक प्रामाणिकता उन्हीं की है इस विषयमें कोई अणुमात्र ही संदेह नहीं कर सकता । ' (देव) ' विद्वानों को अवश्य कहते हैं पर वे सब वेदों के तत्त्वदर्शी होते हैं ऐसा नहीं कह सकते।

देवशब्दका प्रयोग पारसियों के धर्मग्रन्थोंमें भी सर्वत्र निन्दात्मक है पर वेद में भी उस का सब जगह अच्छे ही पुरुषों के विषयमें उपयोग नहीं कहा जा सकता उस के क्रीडा,स्वप्न मद इत्यादि धात्वर्थ लेकर निन्दात्मक प्रयोग संभव है।

' मा शिश्न—देवा अपि गुर्ऋतं नः । '

इत्यादि मन्त्र इस सम्बन्धमें देखने योग्य हैं। ऐसी अवस्था में ऋषियों का सर्वत्र एक स्वरसे यज्ञमें पशुहिंसा का निषेध करना और अजमेध इत्यादिकी अन्य व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। देवों का मांस गृध्र यह विशेषण भी महाभारत पुराणादि में प्रयुक्त हुआ है वह उनके चरित्रपर अच्छा प्रकाश नहीं डालता। केवल पठित लोगोंकी अपेक्षा तत्त्वदर्शी ऋषियों की बातों और सिद्धान्तों का बहुत अधिक महत्त्व है इससे कौन इन्कार कर सकता है। कई जगह मन्त्रार्थ के विषय में संशय तो बडे बडे विद्वानों को भी रहे हैं अबभी हैं और बहुत देरतक रहेंगे इससे हम इन्कार नहीं करते ।

(७) वेदसंहिताओंकी तरह जिन्द अवस्ता नामक पारसियोंके धर्मग्रन्थ में भी ' यस्न ' के नामसे यज्ञों का विधान है। दर्श पौर्णमास गोमेध इत्यादि की भी थोडे नामभेदसे विधान है पर हिंसा का प्रतिपादन नहीं विशेषतः गाके प्रति तो बहुत ही अधिक आदरभाव दिखाया गया है यह बात भी वैदिक यज्ञोंका वस्तुतः अहिंसात्मक होने का साफ समर्थन करती है ।

(८) प्रायः यह माना जाता है कि गौतमबुद्ध के आनेसे पूर्वतक सब यज्ञों में पशुहिंसा को मानते और किया करते थे और भारतवर्षमें सब से पूर्व हिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाने वाले श्री गौतमबुद्ध ही हुए हैं। वास्तव में देखा जाए तो यह बात अशुद्ध है। सुत्त निपातके ब्राह्मण धार्मिक सुत्त नामक ग्रन्थमें गौतमबुद्धके प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म के विषयमें प्रश्न किया गया है । उस प्रश्नके उत्तर में अन्य विषयों की व्याख्या करते हुए गौतमबुद्धने स्पष्ट बताया है कि "प्राचीन ब्राह्मण लोग तथा मुनिलोग अहिंसा व्रतका सदा पालन करते थे। यज्ञ भी वे धान्य तिल बीज इत्यादि से किया करते थे पशुओं की बलि वे न डालते थे। पीछे से इक्ष्वाकुराजा के समय ब्राह्मणों को लोभने आसताया। बहुतसे मन्त्र श्लोक इत्यादि के बनाकर

वे राजाके पास गये और बोले कि हम तुम्हें अजमेध, गोमेध, अश्वमेध इत्यादि यज्ञ कराएंगे जिन के करनेसे तुम्हें सीधे स्वर्ग की प्राप्ति होगी। जब गौएं यज्ञवेदिमें काटी गईं तब ३ रोगों के स्थान में १०१ रोग हो गये और संसार में अशान्तिका साम्राज्य होगया" ऐसा बुद्ध भगवान् ने कहा है। यज्ञ में पशुहिंसा की परिपाटी कबसे चली इस विषय में बुद्ध भगवान् की उस उक्ति को यदि यथार्थ माना जाए तो स्पष्ट पता लगेगा कि वैदिक कालमें यज्ञोंमें पशुहिंसा न की जाती थी पीछेसे स्वार्थपरायण मांसलोलुप घमंडियों ने उसे चलाया। यही बात महाभारतके ---

कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च, लोल्यंमतत्प्रवर्तितम्। अव्यवस्थितमर्यादै-र्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥

इत्यादि श्लोकोंमें भी कही गई है। मांसलोलुप इस लिये कहा है कि यज्ञ में इस प्रकार बलि देकर खाने का विधान किया गया है यहांतक कि न खाने-वाले के लिये मनुस्मृति इत्यादि के प्रक्षिप्तभागों में ----

नियुक्तस्तु यथान्यायं, यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति, संभवानेकविंशतिम्॥

इत्यादि श्लोकों द्वारा २१ जन्मतक पशुयोनिमें जाना लिख मारा है। इस सब को मांसलोलुप स्वार्थियों की लीला को छोडकर और क्या कहा जा सकता है! इस प्रकार स्वयं गौतमबुद्ध के वचनसे भी वस्तुतः प्राचीन काल में प्रारम्भ में हिंसा न की जाती थी यह बात साफ प्रमाणित होती है॥

(५) धर्मग्रन्थों को वैद्यक ग्रन्थों के साथ तुलना करके अध्ययन करने से इस विषय पर नया प्रकाश पडता है। हमें वैद्यक ग्रन्थों के अनुशीलन से पता लगता है कि अश्व, ऋषभ, वराह, अज, महिष, मेष, मृग, रुधिर, इत्यादि शब्द क्रमशः अश्वगन्धी, ऋषभनामक कन्द, वराही कन्द, अजमोद, महिषाक्ष गुग्गुल, चकवड वा मेषपर्णी, सहदेवी बूटी, केशर इत्यादि औषधि वनस्पतियों के वाचक भी हैं। उदाहरणार्थ चरक चिकित्सा प्र० अं १ में

'अजा नामौषधि रजशृंगीति विज्ञायते।'

इत्यादि अजा के विषयमें लिखा है ऐसे ही अन्योंका औपाधिवाचकत्व स्पष्ट प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर बहुत से मन्त्रों का अर्थ खुल जाता है।

(१०) अन्त में मैं इतना ही यहां निर्देश करना चाहता हूं कि सामान्य बुद्धि द्वारा इस विषयका विचार किया जाए तो एक नादान से नादान बच्चा भी कह देगा, कि यज्ञ जैसे कर्म में हिंसा करके उससे स्वर्गप्राप्ति की आशा सरासर मूर्खता है। धर्मके निर्णय में तर्क भी एक साधन शास्त्रकारोंने स्वीकार किया है।

'आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥'

इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों में तो शास्त्रानुकूल तर्क को धर्मशास्त्रमें अत्यावश्यक माना गया है उस दृष्टिसे विचार करनेपर हम यज्ञमें पशुहिंसा के सिद्धान्तपर हँसेबिना नहीं रह सकते। चार्वाकसम्प्रदाय चाहे कितना भी निन्दित क्यों न हो पर उसका यह तर्क कि –

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

अर्थात् यदि ज्योतिष्टोमादिमें मारा हुआ पशु स्वर्गको चला जाता है तो यजमान अपने पिता को यज्ञ में क्यों नहीं मार डालता ताकि उसे भी सीधे स्वर्गकी प्राप्ति हो? तर्क की दृष्टिसे अशुद्ध नहीं कहा जा सकता! इस विषयमें विशेष विस्तारसे लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इन निर्देशोंको ध्यानमें रखनेसे हमें पता लग सकता है कि वैदिक यज्ञ वस्तुतः पशुहिंसाके समर्थक नहीं हैं। कई कई मन्त्रों के अर्थोंको ठीक तौर से हम अभी समझने में असमर्थ हैं उनपर विचार करना चाहिये पर इतना तो हमें निश्चय है कि वेदमें परस्पर विरोध नहीं अतः हमें अपने अज्ञान की दशामें यह कहने का अधिकार नहीं कि वेदके अमुक अमुक मन्त्रों में पशुहिंसाका समर्थन है। अन्त में हम वेदके शब्दों में यही प्रार्थना करते हैं कि—

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां मित्रस्याहं

चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
इन्द्रो विश्वस्य राजति शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

क्या वेदों में यज्ञों में

पशुओं की बलि करना

लिखा है ?

(लेखक—श्री पुरुषोत्तमलाल मुख्याध्यापक गुरुकुल बेट सोहनी)

जो मनुष्य मांस खाते हैं और यज्ञों में पशुओं की बलि करना मानते हैं वह इस वेद मन्त्र की ओर दृष्टि डालें—:

"अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य जिह्वां नितृन्द्धि प्रदतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि" ॥

अथर्व ५ । २९।४

(अक्ष्यौ) दोनों आंखें (निविध्य) छेद डालो (हृदयं) हृदय (निविध्य) छेद डाल (जिह्वां) जीभ (नितृन्द्धि) काट डाल (दतः) दांतको (प्रमृणीहि)तोड दे ! (यतमः) जिस किसी (पिशाचः) मांस भोजी पिशाचने (अस्य)इसका (जघास) भक्षण किया है (यविष्ठ) हे महाबलवान (अग्ने) विद्वान पुरुष (तम्) उसको (प्रति) प्रत्यक्ष (शृणीहि) टुकडे करदे ॥ और देखिये:—

"न कि देवा इनीमसि न क्यायोपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।"

सामवेद छ० अ० २ द० ७ मं २

(देवाः)हम उपासक लोग (न कि इनीमसि) हिंसा न करें (आ) सब ओरसे (न कि योपयामसि) किसी को अज्ञानयुक्त न करें। वेद तो कहते हैं कि सब का कल्याण हो, पशु हो या मनुष्य, यथा:-

ॐ इन्द्रो विश्वस्य राजति शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे । य० ३६ । ८

(विश्वस्य) जगत् का ... (द्विपदे) दोपाय, मनुष्यादिके लिये (शम्) सुखकारक और (चतुष्पदे) चौपाय, गौ आदिके लिये (शम्) सुखकारक (अस्तु) हो। जो लाभदायक पशु हैं उनको मारना बड़ा पाप है। हां हानिकारक जो पशु हैं उनको मारना चाहिये जिससे यश भी प्राप्त हो।

हमारे ऋषियोंका कथन है कि जो जिसकी हिंसा करता है वही उसी की योनि को प्राप्त होगा और उससे मारा जाएगा और खाया जाएगा। जो जैसा कर्म करता है उसको वैसाहि फल प्राप्त होता है। यथाः—

" मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।"

यहां मैं जीसके मांस को खाता हूं वह परलोकमें मुझे भी खायगा।

वेदों में कहीं नहीं लिखा कि यज्ञों में पशुओं की बलि करनी चाहिये यह वाममार्गियोंका चलाया हुआ मत है। मांस और मदिरा का सेवन वैदिक काल में ऋषि और मुनियों से कभी भी नहीं किया जाता था।

हम भी मानते हैं हमारे वेद और शास्त्र कहते हैं कि जो मद्य और मांस का सेवन करते हैं वे राक्षस और दस्यु हैं। हमारे वैदिक कालमें ऋषि लोग मांस नहीं खाया करते थे। पुनरपि उस समय मांस मदिरासेवन करनेवाले मनुष्य अवश्य थे और वे राक्षस दस्यु कहलाते थे। परन्तु वेद भगवान प्राणी मात्रको हिंसा से बचनेका उपदेश देता है। ऋषिलोग स्वाभाविकतया अहिंसाप्रिय थे, क्योंकि विना हिंसात्याग किये मनुष्य ऋषि नहीं हो सक्ता और ईश्वर को भी कभी प्राप्त नहीं कर सक्ता। प्रिय सज्जनो ? यह वार्त्ता विचारनीय है जिन्हों ने वेदों को पढा है वे तो इस बात को मानते हैं और अनपढ मनुष्य भी जानते हैं कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह वैदिक सिद्धान्त है। जब वेदों में एक स्थान नहीं सहस्रों स्थान लिखा है। " यजमानस्य पशून् पाहि, अविं मा हिंसीः गां मा हिंसीः, एकशफं मा हिंसीः " इत्यादि। अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा करो भेड मत मारो गाय मत मारो। एकशफ पशुओं को मत मारो। तब सन्देह ही कैसे हो सकता है?

मूल्य १।)

...ग साधन की तैयारी। मू० १)

योग के आसन। मू० २)

७ सूर्य भेदन व्यायाम। मूल्य ॥)

( ) धर्म शिक्षा के ग्रंथ।

(१) बालकों की धर्मशिक्षा। प्रथमभाग। मू० -)

(२) " " द्वितीय " मू० =)

(३) वैदिकपाठमाला। मू० ≡)

( ) स्वयं शिक्षक माला।

(१) वेदका स्वयं शिक्षक। प्रथमभाग। मू० १॥

(२) " " " द्वितीय भाग। मू० १॥

संस्कृत पाठ माला।

संस्कृत सीखनेकी सुगम रीति।

२४ भागोंका मूल्य ६) रु. और १२ भागोंका मूल्य ३॥) रु.

(६) आगम निबंध माला

मंत्री — स्वाध्याय मंडल औंध (जि. सातारा)

मुद्रक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर स्वाध्याय मंडल
भारतमुद्रणालय औंध (जि. सातारा.)